आधुनिक कवि : जगदीश गुप्त

प्रकाशक : श्रीधर शास्त्री,

हिंदी साहित्य सम्मेलन,प्रयाग

संस्करण : 1994

मूल्य : बीस रुपये

मुद्रक : एकेडमी प्रेस

दारागंज, प्रयाग

पुस्तक का आवरण एवं रेखांकन : जगदीश गुप्त

आदर के अक्षत

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ने अपने विधेयों के अन्तर्गत आधुनिक कवि माला के प्रकाशन का जो शिव संकल्प स्वीकार किया था उसके अन्तर्गत महीयसी महादेवी, श्री सुमित्रा नन्दन पंत, श्री निराला आदि आधुनिक कवि की जीवनी तथा कवि द्वारा स्वयं चुनी गयी मनपसंद कविताओं का संग्रह प्रकाशित है।

इसी शृंखला में सम्मेलन 'आधुनिक कविः डॉ0 जगदीश गुप्त' प्रकाशित कर रहा है। इस काव्य-संग्रह की सारी कविताएँ डॉ0 गुप्त ने स्वयं चुनी है। और अब उन्हें अकरादि-क्रम से प्रकाशित किया जा रहा है। डॉ0 जगदीश गुप्त का व्यक्तित्व, कृतित्व का संक्षिप्त परिचय भी इस संग्रह में है। सम्मेलन कृतित्व को ही अपना वाङ्मय-मधुपर्क प्रदान किया करता है।

डॉ0 गुप्त का कृतित्व विशेषर्ध देने योग्य है। इस संग्रह में समाहित लघुचित्र भी कवि-कलाकार जगदीश गुप्त के ही हैं। डॉ0 गुप्त अपने कृतित्व से सदा अजर-अमर रहेंगे।

सम्मेलन डॉ गुप्त को प्रणाम देता है और घोषित करता है—राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के जन्म दिवस को सम्मेलन कवि-दिवस के रूप में आयोजित किया करेगा। संयोगवश वह दिन डॉ0 जगदीश गुप्त जी का भी जन्म दिवस है, जो 3 अगस्त को पड़ता है। महीयसी महादेवी वर्मा तथा श्रद्धेय गुरुवर डॉ0 रामकुमार वर्मा ने इस परम्परा को अपना आर्शीवाद दिया था। हिन्दुस्तानी एकेडेमी इसे प्रतिवर्ष मनाती हैं 1995 से सम्मेलन कवि दिवस का आयोजन करेगा, जिसमें डॉ0 जगदीश गुप्त को आदर के अक्षत प्रदान करने के साथ-साथ इनके परवर्ती कवियों को सारस्वत सम्मान दिया करेगा।

श्रीधर शास्त्री

प्रधानमंत्री

□

कवि - गीत

कवि वही जो अक्षयधनीय कहे,
किन्तु सारी प्रक्षालना के बीच मौन रहे।

शब्द गूँथे, स्वयं अपने गूँथने पर
कभी रीझे, कभी खीझे, कभी बोला सहे।
कवि वही जो अक्षयधनीय कहे।

सिद्ध हो जिसको, मनोरम सृष्टि का सौन्दर्य-साधन,
भाव-संकलि रूप जिसका, अलंकृति जिसका प्रसाधन,
सिद्धि अपना नहीं, सबका ताप जिसे दहे।
कवि वही जो अक्षयधनीय कहे।

रुद्ध हो तो जगाये प्रक्षोभ नग का,
द्रवित हो तो सृष्टि सारी, साथ-साथ बहे।
कवि वही जो अक्षयधनीय कहे।

शब्दों के संचार से,
या अर्थ के संभार से।
प्रबल भेद या ज्ञान से,
या ज्ञान-प्रत्याख्यान से।
जहाँ अकने लगे, वाणी स्वयं हाथ गहे।
कवि वही जो अक्षयधनीय कहे।

शान्ति मन में, क्रान्ति का संकल्प लेकर टिकी हो,
कहीं भी पीरवी न हो ईमान जिसका,
कहीं भी प्रश्न न जिसकी किसी हो।
जो निरंतर नयी रचना-धर्मिता से रहे पूरित
लोरवती जिसकी कलुष सोंदूक कर सी,
विशद उज्ज्वल कीर्ति-लाभ लहे।
कवि वही जो अक्षयधनीय कहे।

कविताः मनुष्यता की मातृभाषा

कविता मूलतः स्मृति-लक्षणा होती है और इसी रूप में वह युगों पहले सामने आयी। वह स्मृति से उपतजी है, स्मृति में बनी रहती है और अन्ततः कवि को स्मरणीय बना देती है। आज भी स्मृति से कविता का गहन सम्बन्ध है जो आत्मीय, प्रेरक और वरेण्य माना जाता है। कविता पर संकट मानव चेतना पर संकट का द्योतक रहा है। सामाजिक परिर्वतन की पहचान कवि के स्वर में स्वयं गूँजने लगती है। इस रूप में कविता को मनुष्यता की मातृभाषा कहना गलत नहीं है।

भारतीय मनीषा कवि को सर्वोपरि स्थान देती रही है। योरोपीय देशों की तरह यहाँ कवि को असामाजिक और अवांछित प्राणी कभी नहीं माना गया। आगे चलकर वहाँ भी कवि मानव-अधिकारों के निर्धारक तथा जन्मजात-प्रतिपक्ष माने जाने लगे। आज कविता विश्व-जनीन स्तर पर मानव स्वातन्त्र्य का प्रर्याय बन गयी है और सामाजिक परिवर्तन का आधार भी।

कविता का सवाल

शायद हर पीढ़ी अगली पीढ़ी को परचम की तरह कविता का उत्तर-दायित्व देती है और हर समझदार नयी पीढ़ी उसे ज्यादा मजबूत हाथों में थाम कर ऊँचा उठाती है और अपने से आगे आने वालों के हाथ में सौंप देती है—

इस तरह कहने पर कविता का वह पक्ष पीछे छूट जाता है, जिसकी खोज हर कवि को अपनी जगह से, अपने परिवेश में, अपने लिए करनी होती है। इसमें उसकी प्रेरक, अपने से ठीक पिछली वाली पीढ़ी ही न होकर तमाम पीढ़ियाँ, देश-विदेश के तमाम प्रतिष्ठित और अनुभव-सम्पन्न कवि होते हैं, जिन्होंने कविता को अपनी अभिव्यक्ति की स्वाभाविक विधा के रूप में लिया हो, कविता का एक ऐसा जरूरी और मूल्यवान काम समझा हो जिसे कोई दूसरा काम स्थानान्तरित नहीं कर सकता।

आज के युग में नाटक और उपान्यास या कहानी ऐसी विधाएँ है जो अपने प्रभाव को जन-सामान्य तक अधिक सरलता से, और व्यापक रूप में पहुँचा सकती है, पहुँचा रही है तथा आर्थिक दृष्टि से भी कविता से अधिक उपादेय कही जा सकती है। परन्तु यह सब होते हुए भी कवि का सम्मान भारतीय समाज में अब भी सर्वोपरि दिखाई देता है। इसका कारण भारत की वह सांस्कृतिक परम्परा है जिसमें मनुष्य की सहृदयता को उसकी बौद्धिकता से कुछ विशेष सम्मान मिला है। यह सहृदयता, सुसंस्कार और मानवीय गुणों का सम्पुंज रही है, मात्र रूमानी भावुकता और बोधहीन भावात्मकता के रूप में उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता। आज नयी कविता में जब दृष्टिगत परिर्वतन हो गया है कि धर्म और ईश्वर की अपेक्षा मानवता अधिक प्रेरक और महत्वपूर्ण लगने लगी है तथा आधुनिक परिवेश में रूढ़ियों तथा अंधविश्वासों से ऊपर उठकर, सत्यान्वेषण की वैज्ञानिकता से संगति रखते हुए, जीवन के अनुभूत सत्यों को, समाज-परिर्वतन की गति को तीव्र बनाने के संकल्प के साथ व्यक्त करने की अनिवार्यता सामने आ गयी हो, तो कवि-कर्म को नये रूप में व्याख्यायित और निरूपित करने की आवश्यकता उत्पन्न हो ही जाती है। भारतीय चिन्तन-परम्परा ने साहित्य के सन्दर्भ में कवि को साधारण महत्व देते हुए उसे तत्वदर्शी एवं मनीषी की कोटि में रक्खा है, यह दृष्टि प्राचीन यूनानी योरोपीय तत्वज्ञों की उस चिन्तन-परम्परा से भिन्न है जिसमें कवि अतिशय भावुक, स्वेच्छाचारी, यहाँ तक कि विक्षिप्त एवं अवांछित प्राणी माना गया है और समाज को उससे सचेत रहने की सलाह दी गयी है। शताब्दियों बाद अंग्रेजी रामान्टिक कवियों ने इस विचारणा का प्रतिवाद करते हुए कवि को समाज के अघोषित विधायक तथा हित-साधक संवेदनशील व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया। नव-शास्त्रवादियों ने भी कवि को संस्कृति का संवाहक बताया है।

जिस स्वतन्त्रता को भारतीय परम्परा ने कवि का जन्म-सिद्ध अधिकार माना और 'प्रजापति' के रूप में अपने कविता-संसार का निरंकुश-नियामक घोषित किया, उसे पाश्चात्य मानस ने बहुत समय बाद पहचान पाया, जिसके लिए वहाँ के कवियों को पर्याप्त संघर्ष भी करना पड़ा। स्वतन्त्रता मूल्य तभी बनती है जब उसके जड़ें आत्मदान के अमृत से सींची जायँ। स्वार्थ-साधन और अहंकार के पोषण के लिए जिस स्वतन्त्रता की अपेक्षा की जाती है यह सुविधापरक होती है, मूल्यात्मक नहीं। कोई भी मूल्य, बिना निरन्तर नवीन होती हुई अनुभव-सम्पन्नता और गहरे अर्थ में मानव-कल्याण की भावना के

समाज में प्रतिष्ठित नहीं होता। जो मूल्य ऊपर से आरोपित किये जाते हैं, सांस्कृतिक दृष्टि से बोझ बनकर सहज विकास को अवरूद्ध करते हैं। मानव का मनोयन्त्र अत्यंत सूक्ष्म, संवेदनशील तथा शक्ति-सम्पन्न माध्यम है जिसको पूरी तरह परिचालित करने के लिए साधारण भाषा की अपेक्षा ऐसी सृजनात्मक भाषा की आवश्यकता होती है जो संवेदनशीलता के गहरे स्तरों तक व्याप्त होने की क्षमता रखती हो। कवि की अनिवार्यता इसी जगह अपनी प्रतीति कराती है, क्योंकि शब्द और अर्थ का प्रगाढ़ साहचर्य और अभेदात्मक प्रयोग उसकी सुविज्ञात विशेषता मानी गयी है जो आज के युग में भी अपना महत्व बनाये हुए है। इस दृष्टि से साहित्य की सभी विधाएँ कविता की ऋणी हैं, क्योंकि संसार की सभी भाषाओं में कदाचित पहले कविता ही उद्भूत हुई, गद्य का स्थान कविता के बाद में आता है। आज गद्य ही नहीं गद्यात्मकता का प्रभुत्व साहित्य और साहित्येतर दोनों क्षेत्रों में उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। अमानवीयता के साथ व्यापारिक हो जाने वाली 'महाजनी सभ्यता' इसमें अपना विशेष योग दे रही है। वैज्ञानिकता तो इसके पक्ष में है ही क्योंकि विज्ञान संश्लेषण से अधिक विश्लेषण की प्रक्रिया को आधार मानकर चलता है। कला और साहित्य संश्लेषण के बिना सम्भव ही नहीं होते। ऐसी स्थिति में कविता को आज जीवन-संकट की स्थिति से गुजरना पड़ रहा है। मुझे हर छोटा-बड़ा कवि अपने कृतित्व के द्वारा कवि-कर्म की स्वातंत्र्यपरक चेतना को जगाये रखने का उपक्रम करता हुआ प्रतीत होता है। भूषण की पालकी में स्वयं अपना कंधा देने वाले गुणग्राही, छत्रसाल ने विश्वासपूर्वक लिखा था—

कीरति के बिरवा कवि हैं, इनको कबहूँ कुम्हिलान न दीजै।

इस स्तर पर मैं हिन्दी-उर्दू, नये-पुराने या देशी-विदेशी किसी कवि में अन्तर नहीं करता हूँ। मेरे लिए सभी उस मूल-उद्देश्य की पूर्ति और केन्द्रीय मूल्य-दृष्टि की सार्थकता में सहायक हैं। कवि ही नहीं प्रत्येक सृजन-कर्मी कलाकार या शिल्पी भी अन्ततः मानवता को अधिक पूर्ण और समृद्ध बनाने का ही उपक्रम करता है। रंक तो उसे वे लोग बताते हैं जो अमानुषिक कृत्यों द्वारा मानव के उत्पीड़न और शोषण की शक्तियों के सहायक बनते हैं। एक कवि-कलाकार होने के नाते मैं संस्कृति को राजनीति से ऊपर मानता हूँ। 'शम्बूक' के मुख से कहलायी गयी यह बात मेरी अपनी ही है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं-

पृष्ठ संख्या : 9

राज्य जो संस्कृति-रहित है दर्प है।

डसेगा मानव नियति को सर्प है।।

मैं इस कसौटी पर समाजवादी देशों को भी कसना उचित समझता हूँ। केवल स्वातंत्र्य के पक्षधर देशों तक ही इसकी उपयोगिता हो ऐसा नहीं है। मायकोवस्की और युवतेशेंको की कविताएँ इसका प्रमाण है। आज धर्म का स्थान संस्कृति ने ले लिया है और संस्कृति मानवता के बिना निरर्थक है। मानवता की सबसे गहरी पहचान कवि को होती है—ऐसा मेरा विश्वास है। त्यागी-तपस्वी, साधु-सन्त, तत्वदर्शी चिन्तक एवं समर्पित अन्वेषक और लोकसंग्रही समाजसेवक भी इस कोटि में आते हैं पर कविता को मैं मानवता की मातृभाषा और कवि को मानवता का स्वतः प्रेरित पक्षधर मानता हूँ। पक्षधरता का पार्टीबद्ध राजनैतिक रूप् सम्प्रदायबद्ध धार्मिकता की तरह मुझे छोटा दिखायी देता है। विशेषतः जब कोई उस पर जरूरत से ज्यादा बल देता है, तो मुझे और भी लगने लगता है कि वह सही काम नहीं कर रहा है। या तो ज्यादा त्वरा दिखा कर, नाटकीय प्रभाव से, अपनी धाक जमाना चाहता है या अभी समझदारी में कुछ कमी है जिसकी वजह से दूसरों का नासमझ मानकर चलना ही उसे आसान और आत्मपोषक लगता है। समस्या के समाधान का अपना-अपना तरीका भी हो सकता है इसलिए मैं इस मामले में सीधे विरोध की बात नहीं सोचता। साहित्य का क्षेत्र राजनीति से बड़ा और अधिक स्थायी प्रभाव उत्पन्न करने वाला है। तात्कालिकता की दृष्टि से राजनीति ही अधिक शक्ति-सम्पन्न लगती है पर दूरवर्ती परिणाम की समझ और सूझबूझ, वह भी तर्क से अधिक अन्तः प्रेरणा के आधार पर, साहित्य और कला में ही संभव है। कविता का महत्व इस संदर्भ में भी विशेष ही कहा जायेगा।

आज विज्ञान के क्षेत्र में बौद्धिकता एवं तर्कशीलता के कारण जो असाधारण उपलब्धियाँ हो रही है उनकी चकाचौंध और प्रतिस्पर्धा ने मनुष्य को मनुष्य के प्रति सदाशयी और सहिष्णु बनाने के स्थान पर उदासीन, असहिष्णु और क्रूर बना दिया है। यह विडम्बना क्यों उत्पन्न हुई इसका उत्तर आज के वैज्ञानिक के पास नहीं है। अन्ततः वह राजनीति के हाथों में खेलने के लिए विवश हो जाता है क्योंकि सुविधा-साधनों की उपलब्धि के लिए उसे राजाश्रित होना ही पड़ता है। विश्वव्यापी स्तर पर नरसंहार, पृथ्वी पर मनुष्य मात्र के अनिस्तत्व की भयावह दुष्कल्पना और शीतयुद्ध की छाया में निरन्तर विघातक शस्त्रास्त्र-निर्माण जिस अबाध गति से चलता जा रहा है उससे विपरीत दिशा में सोचने वालों में कवि का स्वर सबसे प्रखर प्रतीत होता है—

पृष्ठ संख्या : 10

वीरबहूटी के बूटों वाली घास पर

ये काले टैंक नहीं जाने दूँगा

भय से ठंडी इस खामोशी की लाश पर

बंदूकें तुम्हें नहीं लाने दूँगा।

सर्वेश्वर नहीं रहे पर उनकी यह आवाज गूंजती रहेगी, उनकी यह बेचैनी—

'नाम ले, कोई कहीं से रोशनी का नाम ले'

'अँधरे' में भटकते हर इंसान की आकांक्षा के रूप में सामने आती रहेगी। जिस युग में 'पोस्टर' 'आदमी' से बड़ा सत्य हो गया हो उस युग में आदमीयता की पहचान कराने के लिये व्यापक स्तर पर एक सतत प्रयत्न अपेक्षित है। कवि अपने ढंग से यह कार्य करता रहा है, अब भी कर रहा है और आगे भी करता रहेगा, इसमें संदेह नहीं। 'बदलाव की बेचैनी' इतनी त्वरा से कविता में कभी व्यक्त नहीं हुई, और न उसने इतने जगह ही घेरी कि जीवन के अन्य सन्दर्भ उपेक्षित हो जायँ। धीरे-धीरे सारी कविता जैसे राजनैतिक कविता होती जा रही हैं। नयी कविता ने व्यापक जीवन-स्तर और उसकी विविधात्मक अभिव्यक्ति के लिए काफी गुंजाइश रक्खी पर इधर दायरा छोटा होने लगा है जो मेरे विचार से राजनीति का कुप्रभाव है। विषम स्थितियों की तीव्र प्रतिक्रिया ही कविता नहीं है, अनुभूति के गहन सन्दर्भ और मन के सूक्ष्म स्तरों तक उसकी व्याप्ति ने भी कविता को सदा प्रेरित किया है। कविता मनुष्य को पूरे रूप में स्वीकार करके ही अपनी आन्तरिक शक्ति और वास्तविक सार्थकता अर्जित करती है। राजनीति से आक्रान्त होकर और उसका साधन मात्र बन कर वह अपने उस स्थान से गिर जाती है जो साधक के निकट प्रतिष्ठा देता है। राजनैतिक उद्देश्य के लिए कविता साधन हो सकती है पर कवि के लिए वाग्देवी की प्रत्यक्षमूर्ति के रूप में वह आराध्य और साध्य ही रहती है। जब कवि उसे साधन मान कर चलने लगे, तो समझना चाहिये कि संकट और गहरा हो गया है। ऐसा तभी होता है जब संस्कृति की सही समझ खोने लगती है या राजनीति संस्कृति पर हावी होने लगती है या राजनीति संस्कृति पर हावी होने लगती है। कविता और संस्कृति का सहचर्य नयी कविता के इस दौर में कुछ और गहरा ही हुआ है, अतः उसे नष्ट करने का हर प्रयत्न, चाहे वह राजनीति से प्रभावित होकर कवि स्वयं करे, या राजनैतिक वातावरण उसके लिए कवि को विवश करे, अवांछित ही कहा जायेगा। कविता और राजनीति की सन्निकटता तथा दोनों के पारस्परिक घात-प्रतिघात से यह स्थिति और भी विषम तथा जटिल हो गयी है। कविता

के स्वभाव और स्वधर्म की सही पहचान खो न जाय इसके लिये प्रत्येक कवि को सजग और सक्रिय रहना है। साही जी ने, इस प्रश्न को राजनीति की ओर से देखते हुए, व्यंग्यात्मक ढंग से 'आठवाँ शील' इस प्रकार निरूपित किया—

'कविता' को राजनीति में नहीं घुसना चाहिए। क्योंकि इससे कविता का तो कुछ नहीं बिगड़ेगा, राजनीति के अनिष्ट की सम्भावना है।

तीसरा सप्तक, पृ0 276

नयी कविता ने काव्य-रूप के सन्दर्भ में कोई घेरा नहीं बनाया। उसने मूलतः इस बात पर बल दिया कि सच्ची कविता अपना रूप स्वयं लेकर उपतजी है। 'सशंख चक्र' स किरीट कुंडलम्' का अवतरण— यदि यह शब्द सही मनोवैज्ञानिक अर्थ में लिया जाय— होता है, यदि कवि की या युग की मानसिकता मुक्त-छन्द को अपने अनुकूल पाती है, तो उसे सहज अभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण करने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। दुष्यन्त ने गजल के रूप को नयी अभिवयक्ति के लिये उपयुक्त समझा और अपने कृतित्व से उसे प्रमाणित भी कर दिया। ऐसी स्थिति में हम इस तथ्य को कैसे अस्वीकार कर सकते है कि कवि को छन्द में बंधने की छूट भी उसकी मुक्तिचेतना का अंग होकर ही सामने आती है।

वह चाहे तो छन्द में बँधे, चाहे मुक्त रहे। रचना रचना में अन्तर हो सकता है, होता है। एक ही कवि सारी कविताएँ एक जैसी नहीं लिखता।

व्यक्ति स्वातंत्र्य और सामाजिक दायित्व

व्यक्ति-स्वातंत्र्य उच्छृङ्खलता का पर्याय नहीं है अतएव उसे सामाजिक दायित्व के विरोध में खड़ा करके देखना उचित नहीं है। स्वतन्त्र होने का अर्थ ऐसे तन्त्र का अनुसरण करना है जो 'स्वतः निर्मित' हो या जिसमें 'स्व' सुरक्षित रह सके। मानव-समाज की रचना इकाई को तिरोहित करके नहीं हुई है। सिंधु बिंदु का रूपक समाज और व्यक्ति के सन्दर्भ में पूरी तरह घटित नहीं किया जा सकता क्योंकि बिन्दु की तरह व्यक्ति की सत्ता समाज में विलीन नहीं हो जाती वरन् कभी-कभी व्यक्ति इतने महत्वूपर्ण हो जाते हैं कि समाज उनका अनुवर्ती होने में अपनी सार्थकता समझने लगता हैं। धर्म, राजनीति, साहित्य और कला प्रत्येक क्षेत्र में इसके उदाहरण पा लेना सरल है। भारतीय मनीषा व्यक्ति के महत्व को निरन्तर रेखांकित करती हुई कभी उसके सामाजिक दायित्व की अवज्ञा या अवमानना नहीं करती। नितान्त अन्तर्मुखी साधनाओं

के होते हुए भी लोक-कल्याण और लोक-सेवा की महत्ता दी गयी है। योरोप की तरह का व्यक्ति-स्वातंत्र्य, जिसमें समाज की सर्वथा उपेक्षा हो या वैसा समाज-दर्शन, जिसमें व्यक्ति की सत्ता का व्यावहारिक स्तर पर अत्यन्तिक निषेध हो जाता हो, आधुनिक होते हुए भी भारतीय सन्दर्भ में ग्राह्य नहीं है, क्योंकि देश के संस्कारों का जो आधुनिकता हनन करती है वह क्षणजीवी ही होती है। आधुनिकता का प्रेरक होना और देश-काल के सन्दर्भ में, निरन्तर विकसित होते रहना भी आवश्यक है। अज्ञेय ने 'अच्छी कुंठारहित इकाई साँचे ढले समाज से' लिखकर यही दृष्टिकोण व्यक्त किया है। प्रतिवाद में कहा गया है कि समाज न होने पर इकाई कुंठारहित होगी भी कैसे ? समाज में यदि सजीव और सचेतन मनुष्य सक्रिय रहे, तो वह 'साँचे ढला' होगा ही क्यों ? इस तरह वादी-प्रतिवादी स्वर इस समस्या का कोई समाधान प्रस्तुत नहीं करते। परन्तु उनसे यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि अतिवाद अनुचित और अव्यवहारिक है। कुछ काल के लिए सैन्यबल से किसी देश में व्यक्ति स्वातंत्र्य को भले ही रौंद दिया जाय पर वह एक स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप में मानव मन में सदा सक्रिय रहने वाला भाव है। मार्क्स के चिन्तन पर आधारित एवं प्रेरित समाजवादी रूस के विघटन ने भौतिकवाद की वैज्ञानिक इतिहास-दृष्टि को प्रश्नांकित कर दिया है। विश्वव्यापी स्तर पर अनेक विडम्बनाओं के बावजूद इधर के राजनैतिक परिर्वतन, विरोधों के शमन, व्यक्ति स्वातंत्र्य और लोकतन्त्र के नयी शक्ति के रूप में उदय तथा अन्तरिक्ष-विजय के शुभ संकल्पों से आपूरित दिखायी देती है। भारतीय चिन्तन ने स्वातंत्र्य को केवल राजनैतिक या सामाजिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रक्खा वरन् उसे आध्यात्मिक क्षेत्र तक भी पहुँचा दिया। आज जो आधुनिकता की धारणा प्रचलित है उसमें यह क्षेत्र उपेक्षित होता जा रहा है पर ऐसा होना मेरी दृष्टि से उचित नहीं है।

स्टीफेन स्पेण्डर ने यह सिद्ध किया है कि जो आधुनिकता नगर-बोध की विभीषिकाओं के विरुद्ध खड़ी होकर अन्ततः जब ख्यातिप्राप्त और पुरस्कृत होकर नगरों में प्रतिष्ठित होने लगती है, तो उसकी तेजस्विता कुंठित हो जाती है। विदेशों में अधिकतर ऐसा ही घटित हुआ है। भारतीय सन्दर्भ कुछ भिन्न है क्योंकि यहाँ नगर ही इतनी नहीं है, और न गाँवों से सर्वथा मुक्त होकर आधुनिकता कोई सार्थक भूमिका अदा कर सकती है। महानगरों में आधुनिकता का एक रूप विकसित हो रहा है और ग्रामीण-अंचलों में दूसरा। जो वस्तुएँ, जो विचार जो संवेदनाएँ महानगरीय आधुनिकता त्याग चुकी हैं वह देश के बहुसंख्यक गाँवों के लिए न केवल आवश्यक है वरन उपादेय भी।

ऐसी दशा में परम्परा का तिरस्कार और अतीत के प्रति अनुदार होना किसी प्रकार उचित नहीं है। फिर आधुनिकता अतीत को नये रूप में व्याख्यायित और उपलब्ध भी करती है। नयी परम्पराएँ स्वयँ रचती है और उनके अनुसरण को बढ़ावा देती है। कैसे अनुदार हो सकती है वह ? अन्ततः पुराण-मित्येव नसाधुसर्वं ...' की याद करते हुए पुराने और नये के सम्बन्ध में मैं कालिदास की विवके दृष्टि का कायल हूँ।

संस्कृति-बोध

समर्थ संस्कृति वही होती है जिसे बाहरी सम्पर्क से भय नहीं होता। जिसका आत्मविश्वास किसी के आगे नहीं डिगता। प्रभाव जिसे शक्ति देते हैं, उन्मूलित नहीं करते। जिस काल में आत्मरक्षा के भाव से विदेश जाने वाला या विदेश से आने वालों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था वह अब बीत गया है। विदेशी प्रभाव, मेरी दृष्टि में, वहीं तक ग्राह्य हैं जहाँ तक वह हमें समृद्ध करता है। मानसिक और भौतिक रंकता बढ़ाने वाली आधुनिकता जो आर्थिक शोषण पर आधारित होती है, अग्राह्य है। अंग्रेज़ियत और अंग्रेजों का इसीलिए विरोध किया गया अन्यथा इस देश को आधुनिक बनाने में उनका ऐतिहासिक एवं अन्यतम योगदान रहा है।

अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।

पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी।

यह विचार उन भरतेन्दु के हैं जो हिन्दी साहित्य में आधुनिकता के अग्रदूत हैं। 'अंधेर नगरी' का कवि आज बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को ऐसी छूट देने पर अवश्य वही स्वर अपनाता। अधिक उग्र भी हो सकता था।

'उघरे अन्त न होइ निबाहू' उनकी अनुभवसिद्ध मान्यता है जो आधुनिकता पर भी लागू होती है। जो भाव या विचार आन्तरिक सत्य को व्यक्त नहीं करता वह मूल्यहीन है। उसकी भित्ति पर खड़ी आधुनिकता का कोई भी रूप प्रमाणिक सिद्ध नहीं हो सकता। लेकिन सारी आधुनिकता उसी पर खड़ी नहीं है, यही परितोष का विषय है।

उत्तर-आधुनिकता से कितनी समस्याओं का समाधान हो सकेगा कहना कठिन है। विज्ञान कम्प्यूटर-युग की सृष्टि करके मनुष्य का विकल्प नहीं बन सकता।

कामायनी की अर्धशती तथा प्रसाद के जन्मशती-वर्ष पर ये पंक्तियाँ विशेष रूप से स्मरणीय लगती हैं जो लोग प्रसाद को प्रतिगामी और और प्रेमचन्द्र

को प्रगतिशील समझते हैं उनका साहित्यिक विवके मुझे सन्देहास्पद दिखायी देता है।

नैतिकता के प्रति आधुनिक मनुष्य की दृष्टि बदली है क्योंकि मानवीय दुर्बलताओं को उसने दैवी अभिशाप या अपराध मानने से इनकार किया है। हर नैतिक मान्यता एवं मूल्य को नये सिरे से जाँचने-परखने तथा अपना निजी निष्कर्ष निकालने के लिए उसकी व्यग्रता दर्शनीय है। यथार्थ के धरातल पर उतर कर उसने पुराने आदर्शों को अनावश्यक करार दिया है पर आदर्श राज्य बनाने, तथा शोषणविहीन समाज रचने के नये यूटोपिया उसे आकृष्ट करते हैं, सक्रिय बनाते हैं और क्रान्ति की ओर प्रेरित करते हैं। 'आम आदमी', 'लघु मानव', 'पिछड़ी जातियाँ', जन जातियाँ' और 'दलित वर्ग' उसकी सहानुभूति का केन्द्र बनते हैं, यहाँ तक कि उनके हितों का विचार ही नयी नैतिकता का आधार बन

जाता है। पुराना कानून अमान्य हो जाता है। उसके तहत किये गये अपराध, अपराध नहीं माने जाते। नये मनुष्य का उदय संघर्षों में उसे विजय बनाता हुआ प्रतीत होता है। द्रष्टव्य हैं प्रसाद की पंक्तियाँ -

शक्ति के विद्युतकण जो व्यस्त विकल बिखरे हैं हो निरुपाय।

समन्वय उनका करे समस्त विजयिनी मानवता बन जाय।।

मानव-मन की पूरी पहचान सामने नहीं आयी है और मानव-निरपेक्ष विज्ञान और यान्त्रिकी बहुत दूर नहीं ले जाते। इतिहास को वैज्ञानिक मानना और उसे नियामक सिद्ध करना परस्पर विरोधी धारणाएँ हैं क्योंकि मनुष्य की भूमिका निरन्तर नयी धारणाओं और नियमों का विकास करती रही है। सर्वहारा-क्रान्ति अतिवाद के कारण ही विफल हुई। राजनीति में भी संतुलन अनिवार्य है और मध्य-मार्ग का सतत अन्वेषण भी आवश्यक है।

आधुनिकता के संघर्षशील रूप ने परिवेश को प्रधानता दी है परन्तु उसकी आत्मान्वेषी धारा ने अन्तश्चेतना को प्रधान माना है। मेरी दृष्टि में दोनों अन्योन्याश्रित हैं। परिवेश से बाहर जाना सम्भव नहीं है परन्तु परिवेश पर विजय अन्तश्चेतना की शक्ति या आत्मबल के बिना भी अकल्पनीय है। अन्तःकरण सन्तुलित रहने पर ही परिवेश की सही पहचान हो पाती है और उसका नियमन भी।

भारतीय दृष्टि साधन और साध्य दोनों को महत्वपूर्ण मानती है और मैं इस विषय में भारतीय दृष्टिकोण को सही मानता हूँ। साधन को गैर जरूरी

सिद्ध करना मुश्किल है अतः उसकी उपयुक्तता पर विचार करना ही होता है। साधनों की अनेकता भी चयन की प्रेरणा देती है विशेषतः संस्कारशील, दायित्वबोध वाले विवेकी मनुष्य को। गलत साधनों के उपयोग से सही परिणाम और आन्तरिक शान्ति भी उपलब्ध नहीं होती। बाह्य वैभव की सापेक्षता में आन्तरिक शान्ति या आत्मपरितोष को मैं अनावश्यक या कम महत्वपूर्ण नहीं मानता क्योंकि मेरी दृष्टि में मूल्यवत्ता का वह मौलिक आधार है। जीवन-मूल्य अनुभव की भट्ठी में पक कर ही स्थायित्व पाते हैं।

भौतिकवाद दृश्य-जगत् को दृष्टा से अधिक महत्वपूर्ण मानता है जबकि वास्तविकता इसके विपरीत है, क्योंकि बिना द्रष्टा के दृश्य की कल्पना ही सम्भव नहीं है। 'दृग्दृश्य-विवेक' के अभाव में भौतिकवाद समग्र जीवन को न तो पहचान पा रहा है और न व्याख्यायित कर पा रहा है। भौतिकता की दिशा में उसकी प्रगति अवश्य असाधारण, और बहुत अंशों में सराहनीय एवं अनुकरणीय है, क्योंकि जो भौतिकवादी नहीं है वे भी शरीरधारी हैं और इसी जगत् में व्यावहारिक जीवन जीते हैं। भौतिकवाद की सापेक्षता में अध्यात्मवाद को नये रूप में, मानवीय दृष्टि से व्याख्यायित करना होगा। ऐसी दशा में वह मानववाद और मानवतावाद के समकक्ष दिखायी देने लगता है।

मानव-केन्द्रित जीवन-दृष्टि मानवता के विकास में सहायक

पहले तो इन दोनों दृष्टियों 'मानववादी' और 'मानवतावादी' का अन्तर स्पष्ट रूप से समझना आवश्यक है फिर दोनों की उपलब्धियों पर पुनर्विचार अपेक्षित है। वस्तुतः दोनों एक दूसरे की पूरक हैं। जो 'मानववाद' अहंकार की अतिशयता के द्वारा मानवता की हानि करता है वह कदापि ग्राह्य नहीं है। मानव को सृष्टि से विच्छिन्न करके देखना सम्भव भी नहीं है। मानव सभ्यता के विकास में मानववादी दृष्टि सहायक हुई है क्योंकि मानववाद एक अग्रगामी विचारधारा बनकर आया है। उसकी जड़े विकासवाद के भीतर समायी है जिसे मनोविज्ञान पहचानने की कोशिश कर रहा है।

राष्ट्रीयता के बिना व्यक्ति और समाज उन्मूलित होने लगते हैं और अन्तर्राष्ट्रीयता के बिना संकीर्ण, अतः दोनों का तालमेल अपेक्षित है, राष्ट्रीयता का अवमूल्यन अथवा निषेध घातक है और अव्यवहारिक भी। राष्ट्रीयता पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीयता ही श्रेयस्कर सिद्ध हुई है यह अनुभव बताता है।

परन्तु मैं संघर्ष के अभाव में उसे सार्थक नहीं मान पाता। समाज की विषमताओं के प्रति आँख मूँदकर अस्मिता की खोज करना पलायनवाद के निकट पहुँचा देता है, जिसकी परिणति परतन्त्रता में होती है। अतएव सचेत और सजग रहकर संघर्ष करना ही प्रेरणादायक है।

'अहरह संग्राम किन्तु विगतज्वर' ।

कविता को दशकों में बाँटकर देखने की प्रवृत्ति विदेश से आयी है

तारसप्तक से जहाँ तक मुझे ज्ञात है, दशकबद्ध-चिन्तन आरम्भ नहीं हुआ। सप्तकों के अन्तराल से भी उसकी कोई संगति नहीं थी क्योंकि उनमें सात कवियों के चयन पर आग्रह है दशक विशेष के सात कवि चुनने पर नहीं। हाँ, अज्ञेय के काव्य-चिन्तन में दशक की परिकल्पना अवश्य समाहित रही, इसका प्रमाण मुझे नयी कविता के सम्पादन-क्रम में तब मिला जब उन्होंने उसमें प्रकाशन के लिए एक ऐसी कविता दी जिसमें "आपने दस वर्ष हमें और दिए" पहली ही पंक्ति थी, जो हिन्दी काव्य-विकास के क्रम से ही सम्बद्ध थी।

आपने दस वर्ष हमें और दिए,

बड़ी आपने अनुकम्पा की,

हम नतशिर हैं,

हममें तो आस्था है,

कृतज्ञ होते हमें डर नहीं लगता,

उखड़ न जाएँ कहीं,

दस वर्ष और, पूरी एक पीढ़ी।

इसे पढ़कर मुझे कुछ अजीब-सा लगा था कि उनके मन में केवल दस वर्ष की कल्पना क्यों आई। जहाँ तक नयी कविता-आन्दोलन का प्रश्न है, उसमें उन्मेष का बोध 1950 से ही होने लगा था। 1954 में 'नयी-कविता' पत्रिका निकली, जिसके आठ अंक विभिन्न अन्तरालों में 1967 तक, प्रकाशित हुए। यह कालावधि दशक कल्पना से संगति नहीं रखती। सन् 1960 तक कोई ऐसा वर्ष नहीं था जहाँ तक मेरी धारणा है सातवें दशक के उत्तरांश में साठोत्तरी कल्पना का जन्म हुआ और चीनी आक्रमण को संवेदना-परिवर्तन का बिन्दु मानने की बात भी, अन्य बातों के साथ कही गयी। 'मोहभंग' की नयी कविता, अलगाव की रेखा खींचती है, ऐसा भी मंतव्य व्यक्त किया गया। आंशिक रूप से यह सत्य माना जा सकता है। 'दशकों से बाँटकर काव्य-

परिवर्तन को देखने की प्रवृत्ति विदेशी आलोचना-पद्धति से आयी, क्योंकि यहाँ 'डिकेड्स' में बाँटकर काव्य-विकास का निरूपण आलोचकों ने किया है।

नयी कविता के आठवें अंक में 'किसम-किसम की कविता' का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए मैंने जो लगभग चार दर्जन नाम गिनाये थे, उसमें साठोत्तरी कविता जैसा कोई नाम नहीं था। इससे स्पष्ट है कि 1967 तक यह नाम प्रचलित नहीं हुआ था। सम्भवतः तब तक किसी ने प्रस्तावित भी नहीं किया था। जब नयी कविता आन्दोलन के भीतर अलग-अलग अपनी पहचान कराने के लिए अन्य इतने नाम प्रस्तावित हों या इतने रूप सामने आ रहे हों, तो साठोत्तरी शब्द एक समग्रता के बोध का ही द्योतक माना जा सकता है, ऐसी समग्रता जो अनुपात-भेद से इन सभी नाम-रूपों में समाहित हो। लगता है कि गैर-रोमांटिक होना साठोत्तरी कविता की एक पहचान है। यों इस बात पर प्रगतिवाद और प्रयोगवाद दोनों ने अपने-अपने ढंग से आग्रह किया है। फलतः नयी कविता में अलग से इसके उल्लेख की जरूरत नहीं पड़ी। एक ऐसा दौर जरूर आया कि नए नाम की तलाश में पनपने वाली अनेक कविता प्रवृत्तियों को, नयी कविता से अपने को अलग प्रदर्शित करने के लिए, उसे रोमांटिक कहकर लांछित करने का तर्क पसन्द आया। इस पृष्ठभूमि में साठोत्तरी कविता का गैर-रोमांटिक आग्रह कुछ दूर तक उसकी पहचान का दिशा-संकेत कर सकता हैं। युग उसका रोमांटिक होना स्वीकार नहीं करता, क्योंकि वैचारिक पक्ष को सम-सामयिक बोध के साथ उसने जिस रूप में उभारा और अभिव्यक्ति की, अंतर्विश्लेषण पद्धति को जिस शब्दावली और जिस शैली से व्यक्त करने की पद्धति को व्यापक स्वीकृति दिलायी, वह रोमांटिक मिजाज से सम्भव नहीं थी।

जहाँ साठोत्तरी के साथ एक दशक की कविता का अभिप्राय रहता था, सत्तरोत्तर युग कहना तो उन्हें और महिमामंडित कर देना होगा। मुझे तो 'नयी कविता-युग' कहने में भी संकोच होगा। युग शब्द तो आधुनिक-युग में ही संगत दिखाई देता है। रही नवीनताओं की बात, तो जब साहित्य में अलगाव पर आग्रह नहीं है, तो आप और हम साठोत्तरी के वजन पर सत्तरोत्तरी या सत्तारोत्तर शब्द गढ़ने का अग्रह क्यों करें। इसके उच्चारण में भी कठिनाई पड़ती है। रही कवि और कविता के अवमूल्यन की बात, तो वह एक प्रश्न का नहीं, व्यापक चिंतन का विषय है। इतना मैं अवश्य मानता हूँ कि सप्तक दशक क्रम में वक्तव्य को प्रधानता मिली है। मैं तो यह भी कहूँगा कि बहुत-सी कवतिाएँ, कविता और वक्तव्य का अन्तर, या कविता और सार्थक

वक्तव्य का अन्तर, कितनी दूर तक बनाए रखना सम्भव एवं उचित है, इस पर विचार और चिंतन होना ही चाहिए।

आप कविता पर संकट की बात कहते हैं और मुझे मनुष्यता पर संकट अधिक प्रखर दिखाई देता है। चूंकि मैं कविता को मनुष्यता की भाषा, और दूसरे शब्दों में मनुष्य की मातृभाषा मानता हूँ, इसलिए मनुष्यता का संकट मूलतः कविता का संकट है, ऐसा कह सकता हूँ। अपनी कला या कविता के प्रति निष्ठावान् और समर्पित रहने मात्र से मनुष्यता का संकट दूर हो जायेगा, ऐसा मैं नहीं मानता। कवि कलाकार के लिए इतना तो करणीय है ही, किन्तु समाज की समग्र गतिविधि पर दृष्टि रखकर मानवीय स्वाभिमान की रक्षा करते हुए, उसके अपने अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य के लिए नागरिक की तरह संघर्ष करना भी आवश्यक समझता हूँ। लेखन कार्य मेरी दृष्टि में समग्र जीवन-संघर्ष का ही एक अंग है। किन्तु ऐसा मानते हुए भी मैं उसे नियामक नहीं मानता। स्वच्छंदता उससे बाधित नहीं होती।

दुष्यन्त और धूमिल: हिन्दी कविता के नये कीर्तिमान

यदि नयी कविता को मुक्त-छंद तक सीमित मान लिया जाय, तो 'साये में धूप' का विरोधी स्वर गजलों में क्यों फूटा इसका उत्तर देना मुश्किल हो जायेगा। उनकी ये पंक्तियाँ नयी कविता की जमीन

से ही निकली हैं और उन्होंने अनेक नये कवियों को प्रभावित भी किया है। वाणी के संकट को झेलते हुए भी दुष्यन्त ने अपने कवि-कर्म को सार्थक बनाया।

गूँगे निकल पड़े हैं, जुबाँ की तलाश में,

सरकार के खिलाफ ये साजिश तो देखिए।

मैं बेपनाह अँधेरों को सुबह कैसे कहूँ,

मैं इन नज़ारों का अंधा तमाशबीन नहीं।

इस सिरे से उस सिरे तक सब शरीके जुर्म हैं,

आदमी या तो जमानत पर रिहा है या फ़रार।

यहाँ छंदात्मकता भी छंद-मुक्ति का पर्याय बन जाती है।

धूमिल के विषय में मराठावाड़ विश्वविद्यालय के समीक्षक-प्राध्यापक डॉ0 गणेश अष्टेकर की पुस्तक ने मुझे फिर से सोचने की प्रेरणा दी। हिन्दीतर भाषी क्षेत्र में धूमिल कितने आत्मीय हो सकते हैं यह देखकर सचमुच आश्चर्य हुआ। उन्होंने अभियुक्त और अभियोक्ता की भाषा के अन्तर को पहचान कर सही रूप से उसे बचाव और आक्रमकता से जोड़ा है। विसंगति इतनी बढ़ी कि काशी और महाराष्ट्र के धर्मनिष्ठ समाज में कोई अन्तर नहीं रहा।

पृष्ठ संख्या : 19

धूमिल ने कविता को नये रूप में परिभाषित किया :

कविता

शब्दों की अदालत में

मुजरिम के कटघरे में खड़े बेकसूर आदमी का

हलफ़नामा है।

-संसद से सड़क तक, पृ0 91

उन्हें कविता (शब्दों में) 'आदमी होने की तमीज़' लगी।

'मोचीराम' और 'पटकथा' जैसी कविताएँ हिन्दी कविता का कीर्तिमान बनी और नये स्तर पर युग-बोध को पहचाना गया। उनका यह कहना स्मरणीय रहेगाः

कविता सिर्फ उतनी ही देर सुरक्षित है

जितना देर, कीमा होने से पहले

कसाई के ठीहे और तनी हुई गँड़ास के बीच

बोटी सुरक्षित है। -पृ0 93

कविता में इतनी असुरक्षा का अहसास कभी नहीं रहा।

कवि-दिवस

राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त के जन्म दिवस, 3 अगस्त को प्रति वर्ष अखिल भारतीय स्तर पर मनाया जाय यह संकल्प, महादेवी वर्मा, डॉ0 राम कुमार वर्मा, गिरजाशंकर माथुर, रघुवीर सहाय प्रभाकर माचवे, अजित कुमार तथा लक्ष्मीकांत वर्मा आदि के सहयोग से प्रयाग, लखनऊ और दिल्ली में उद्घोषित किया गया। महामहिम राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति दोनों ने इसे अपनी प्रेरक सहमति प्रदान की है जिससे उसे और बल मिला है। आगे कवि-दिवस को कविमात्र के प्रति सम्मान का प्रतीक मानकर व्यापक स्वीकृति मिले तो और भी श्रेयकर होगा। भारतीय संस्कृति ने कवि और कविता को साहित्य के अन्य रूपों से विशिष्ट मानकर सर्वोपरि महत्ता दी है इसमें कोई सन्देह नहीं। हिन्दी संस्थान और हिन्दुस्तानी एकेडेमी इस विषय में अधिक प्रयत्नशील रहे हैं परन्तु अब इसे व्यापक मान्यता मिले यही उचित होगा।

मैथिलीशरण गुप्त की ये पंक्तियाँ आगामी युग की कल्पना को जिस रूप में प्रस्तुत करती है उसमें विडम्बना और विसंगति दोनों द्रष्टव्य है।

काँच-नयनी, कृत्रिम-दशना।

यथारूचि सकल जन्तु अशना।

पृष्ठ संख्या : 20

प्रलय-पिंडा, विद्युद्-दशना।

वाष्प निःश्वसना बहु-वसना।

नयी संस्कृति अगई ऊल,

उड़ा वह धुआँ, उड़ी वह धूल।

कविता और नये प्रतिमानों की चिंता

हिन्दी में 'नयी कविता' ने जो आन्दोलनात्मक रूप ग्रहण किया, उसके परिणाम स्वरूप् काव्य-चिन्तन को असाधारण गति मिली। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने नयी कविता के प्रतिमान लिखकर जो पहल की वह आज भी महत्वपूर्ण है। 'नयी कविता' के सम्पादन क्रम में जो कुछ मैंने लिखा वह 'नयी कविताः स्वरूप् और समस्याएँ' नाम से प्रकाशित हुआ। 'नयी कविता' में ही, मैंने और विजयदेव नारायण साही ने, 'कविता के नये प्रतिमान' का प्रश्न उठाया और उसी में एक परिचर्चा भी प्रकाशित की। डॉ0 नामवार सिंह ने उसी के आधार पर 'कविता के नये प्रतिमान' नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक लिखी जिसमें घोषित रूप से मुक्तिबोध को नयी कविता का निराला सिद्ध करने की चेष्टा की। उनके द्वारा प्रस्तावित 'भाव का वस्तुमूलक आकलन' को नामवार जी ने आचार्य शुक्ल के 'विभावन व्यापार' और टी0एस0 इलियट के 'आबजेक्टिव कोरिलेटिव' के समकक्ष रखकर विशेष गौरव दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रगतिशील कविता को मुक्तिबोध के रूप में एक नया आधार मिल गया और नया दौर शुरू हो गया जिसमें शमशेर बहादुर सिंह, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन को विशेष मान्यता मिली और पुरस्कार भी उपलब्ध हुए। परन्तु इससे भवानीप्रसाद मिश्र आदि के कृतित्व सहित कविता के व्यापक रूप की उपेक्षा हुई। यहाँ तक कि नरेश मेहता को 'अरण्य' पर साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिलना बहुतों को अपवाद जैसा लग रहा है पर भारतीय ज्ञानपीठ से सम्मानित होने पर उसका प्रश्न ही नहीं उठता। भारत-भवन के साथ मध्यप्रदेश की नीति न बदली होती तो मुझे भी 'मैथिलीशरण गुप्त सम्मान' कदाचित ही मिल पाता। वह सर्वसम्मति से मिला यही सुख है।

दिनकर द्वारा लिखी शुद्ध कविता की खोज में उठाये गये बहुत से सवालों का जवाब अभी तक नहीं मिला क्योंकि सामान्य समीक्षक की पहुँच उन तक होना सम्भव नहीं हुआ और विशिष्ट समीक्षक उन्हें अधिक सम्मान देना नहीं चाहते थे। उनके आगे दलीय आग्रह प्रमुख था।

पृष्ठ संख्या : 21

□

नये मनुष्य की प्रतिष्ठा

भावना को नया स्तर प्रदान करते हुए नयी कविता
का लक्ष्य आधुनिक चेतना एवं संवेदना से सम्पन्न
व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करना है। मैं इसे नये मनुष्य
की प्रतिष्ठा कहूँगा। इसे परिभाषित करने का प्रयत्न
मैंने किया है। यथा—

'नया मनुष्य रूढ़िग्रस्त चेतना से मुक्त, मानव-मूल्यों के रूप में स्वातन्त्र्य के प्रति सजग, अपने भीतर अनारोपित सामाजिक दायित्व का स्वयं अनुभव करने वाला, समाज को समस्त मानवता के हित में परिर्वतित करके नया रूप देने के लिए कृत-संकल्प, कुटिल स्वार्थ-भावना से विरत, मानव-मात्र के प्रति स्वाभाविक सह-अनुभूति से युक्त, संकीर्णताओं एवं कृत्रिम विभाजनों के प्रति क्षोभ का अनुभव करने वाला, हर मनुष्य को जन्मतः समान मानने वाला, मानव-व्यक्तित्व को उपेक्षित, निरर्थक और नगण्य सिद्ध करने वाली किसी भी दैविक शक्ति या राजनैतिक सत्ता के आगे अनवनत, मनुष्य की अन्तरंग सद्वृत्ति के प्रति आस्थावान्, प्रत्येक व्यक्ति के स्वाभिमान के प्रति सजग, दृढ़ एवं संगठित अन्तःकरण-संयुक्त, सक्रिय किन्तु अपीड़क, सत्यनिष्ठ तथा विवके-सम्पन्न होगा। अगर कवि के आत्मरंजन, भावभिव्यक्ति एवं संवेदन-सम्प्रेषण के अतिरिक्त कविता का कोई इतर उद्देश्य हो सकता है, और मैं समझता हूँ, तो कहना होगा कि ऐसे मनुष्य की प्रतिष्ठा करना ही नयी कविता का उद्देश्य है।'

—"नयी कविताः स्वरूप् और समस्याएँ", पृ0 29

पृष्ठ संख्या : 22

शब्दों में सोया हुआ काव्य

मुझे बहुधा ऐसा लगता रहा है कि जीवित प्राणियों की तरह, जीवित भाषा के भीतर प्रवाहित काव्य-चेतना भी, शब्दों को तन्द्रा से इस तरह भर देती है कि उनकी दीप्ति धूल में पड़े हीरे की तरह अलक्षित रह जाती है। इस स्थिति को मैं 'शब्दों में सोया हुआ काव्य' की संज्ञा देना चाहता हूँ। किसी ने इसे इस रूप में लक्षित किया हो या ऐसी कल्पना की हो या मुझे नहीं मालूम पर कवि-मन में जाग्रत शब्द-संस्कार उनके सोने की बात से स्वयं प्रदीप्त हो जाय तो मैं इस प्रतिक्रिया को स्वाभाविक समझूँगा। कवि-कलाकर का सौन्दर्य-बोध भाषा से शब्दों तक ही नहीं वर्णों तक व्याप्त रहता है, 'वर्ण' जिनमें स्वतः काव्यात्मकता सोई हुई हो। रंग और रंगों में लिखित अक्षर दोनों अभिन्न दिखायी देते है। एक अर्थ जाग्रत है दूसरा सोया हुआ। 'वर्ण' में मैं उसे जागते देखता हूँ जब कवि को चित्रकार मान लेता

हूँ। 'लेखन' में आलेखन समाहित है वैसे ही जैसे 'रेखा' में 'लेखा'। 'चित्रण' मूलतः कलाकार करता था पर लक्षणा ने उसे कवि के लिए भी सुलभ बना दिया। काव्यार्थ के सो जाने पर लक्षणा स्वयं अभिधा बन जाती है। काव्य-शास्त्रियों ने 'रूढ़ा' नाम दे दिया है पर जो बात मैं कहना चाहता हूँ वह इससे कुछ विशेष है। काव्यार्थ का मर जाना रूढ़ा है पर उसका सो जाना, आहट से जाग जाना या 'लगी पग नुपुर घाटी बजावन' की मुद्रा में उसको जगा देना जैसी स्थितियों को उससे भिन्न मानता हूँ और सम्भव भी। स्वयं अपनी आँखें खोलकर शब्दों को उनकी उनींदी आँखों से देखना समर्थ कवि का काम है, ऐसा मुझे लगता है।

'किंशुक' में टेसू के फूल से शुक-चंचु की समानता शब्द से ही मुखर है। ऐसे ही शिव के पर्याय 'व्योमकेश' और 'दिगम्बर' अपने में जैसी काव्यात्मक कल्पना सहेजे है वह मुझे सदा आसाधारण लगती रही है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपना उपनाम 'व्योमकेश' यों ही नहीं रक्खा होगा। उन्हें इस शब्द के भीतर के सोये हुए काव्य को जगाने की प्रेरणा अवश्य कालिदास से अवश्य मिली होगी।

पृष्ठ संख्या : 23

अमूर्त आकाश को मूर्त जटा-कलाप के रूप में देखना महाकवि के वरद साहचर्य के बिना सम्भव नहीं हो सकता। 'दिगम्बर' में भी आकाश की नीलाभ अमूर्तता को वस्त्र से उपमित किया गया है जो काव्यात्मक अन्तर्दृष्टि के बिना सम्भव नहीं, 'शंखवलय' और 'स्वस्तिक' जैसे शब्द, रूपात्मकता को साकार करके, सौन्दर्य-बोध को सक्रियता देते हैं। शंख की आकृति से उत्पन्न आर्वतन-क्रम हममें अनन्तता की प्रतीति कराने में सक्षम है । 'स्तनविनिहित-हस्तस्वस्तिकाभिर्वधूभिः' में स्वस्तिक का जो चित्र सामने आता है वह सीधे रूप की जगह तिरछे रूप की धारणा प्रकट करता है। दोनों में अन्तर कवि-कलाकार ही देख सकते हैं। 'स्वस्तिक' का पर्याय 'क्रास' दोनों अर्थों का द्योतक माना जाता है। प्रागैतिहासिक चित्रकला के संदर्भ में तथा सिंधु-घाटी सभ्यता में अंकित 'स्वस्तिक', अपने अनेक रूपों के द्वारा साहित्य की धारणा को विस्तृत करता है।

दक्षिण-वाम दोनों विचार-धाराओं को 'स्वस्तिक' प्रेरणा दे सकता है क्योंकि वह शंख की तरह 'दक्षिणावर्ती' भी होता है और 'वामवर्ती' भी। 'द्विरेफ' शब्द भी 'रेफ' के दाहिने-बायें रूप की सांकेतिक छवि उभार कर भौंरे की सही कल्पना करा देता है। श्री रंगनाथन जैसे कुछ संस्कृतज्ञ उस चित्रात्मक काव्यार्थ को 'भ्रमर' शब्द से प्रयुक्त दो रकारों का द्योतक मानते हैं पर रकार को 'रेफ' कहना ठीक नहीं है। 'एक छत्र एक मुकुट मनि' के प्रमाण से रेफ छत्राकार ही मानी जाती है। भ्रमर में जो काव्य सोया हुआ है उसे चित्रकला के संस्कार से ही जगाया जा सकता है। पंत जी ने लहर के विभिन्न पर्यायों को इसीलिए 'चित्रराग' की संज्ञा दी थी। 'मगांक' और 'शशांक' जैसे शब्दों में चित्रात्मकता स्वयं जाग्रत दिखायी देती है क्योंकि उनके अर्थ निगूढ़ नहीं हैं। उनको सरलता से लक्षित किया जा सकता है। हाँ 'लिखत सुधाकर गा लिखि राहू' में 'श्वेत वृत्ताकार चन्द्र' को 'श्याम-वृत्ताकार' तभी माना जा सकता है जब शब्द की जगह उनका रूप् आलिखित किया जाय वह भी ज्योतिषज्ञान के साथ। 'चक्षुश्रवा', 'उरग' और 'करि' जैसे शब्द भी गतिशील चित्र सामने लाते हैं, चाहे वह अमूर्त हो या मूर्त।

पृष्ठ संख्या : 24

□

बिम्बों में रीझता-खीझता मेरा मन

विचार के स्तर पर कविता में दृश्यात्मकता खोजना एक बात है और रचना के स्तर पर उससे जुड़ना दूसरी बात। तुलसी ने कहीं लिखा है 'एसोई सुझाव कुछ तुलसी के मन को'। उनके इस सूत्र को खोजता हुआ जब मैं अपने स्वभाव की गहरायी में जाता हूँ तो लगता है वह निरन्तर बिम्बों में रीझता-

सीझता रहा है। जल पर बिम्बों-प्रतिबिम्बों की छायामयी सृष्टि मेरी दृष्टि को रचनात्मकता की ओर स्वतः प्रेरित करती रही है और मन में अपने आप चित्रात्मक कल्पनाएँ उभर कर कभी कविता में कभी चित्र में समाहित होती रही। मैं इसे अपना स्वभाव ही कहूँगा क्योंकि इसके लिए मुझे किसी अतिरिक्त प्रयत्न की आवश्यकता नहीं हुई वरन् देखता हूँ जब ऐसा नहीं हो पाता है तब मुझे बेचैनी होने लगती है। नये-नये पुस्तकालयों, संग्रहालयों तथा देवालयों में जाने की जितनी उत्कट प्रेरणा मेरे भीतर उपजती है उसके कहीं अधिक गहरी आकांक्षा वनों, पर्वतों एवं सर्वथा अपरिचित स्थलों तक पहुँचने तथा जन-जीवन के प्रवाहित रूपों में घुलने-मिलने की ओर सदा प्रवृत्त रही है। प्रागैतिहासिक चित्रों की खोज में मैंने प्रायः राम-वनवास की अवधि तक अपने को घर से बाहर और बाहर से घर आने की गतिशील अवस्था में रक्खा क्योंकि इसके लिए मुझे कोई अतिरिक्त चेष्टा नहीं करनी पड़ी। एक संकल्प और उससे जुड़ी हुई रचनात्मक मानसिकता मुझे चित्रों के बीच शक्ति और सार्थकता देती रही। नयी कविता ने सम्पादन-क्रम में मुझे अकस्मात बिम्ब-विधान और लयात्मकता की ओर प्रेरित नहीं किया वरन् उससे पूर्व नयी रचनात्मकता की ओर जाने की अनेक दिशाएँ मेरे आगे स्वतः उद्घाटित होती गयीं। अधिकांश नदी-तट का वास और प्रकृति का मुक्त साहचर्य मुझे महानगरीय विषमता से कभी ग्रस्त नहीं कर सका। आज के महानगर परिवेश को जोड़ने की जगह दृश्यों को तोड़ते अधिक प्रतीत होते हैं क्योंकि योरोप की तरह भारतीय जीवन में अब भी अपवाद है। समता की जगह वे आन्तरिक विषमता की प्रतीति कराते हैं। मैं मानता हूँ कि कलाकार-कवि सौन्दर्यात्मक

स्तर पर रचनाशील हो तो विषमताओं के बीच स्वयं समता की खोज और उपलब्धि करता रहा है किन्तु आज वह कार्य यथार्थ की जटिलता तथा आर्थिक विसंगति के कारण उत्तरोत्तर दुष्कर होता जा रहा है। रस को विरस होते देखकर वह आत्मीयता के लिए सह-अनुभूति की खोज करने लगा है जिसमें मानवीयता को आदर्श और उदात्त रूप ग्रहण करने की अनिवार्यता नहीं रह जाती। जगह-जगह से आन्तरिक लय टूटती है और संगति गहन विसंगतियों से टकराकर वापस लौट आती है पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव अभिव्यक्ति के क्षेत्र से मिटाये नहीं मिटाता। मुक्तिबोध ने अपने रचना-कर्म को फैटेंसी की अबूझ दिशा में मोड़ दिया जो उनके जीवन-दर्शन से उपजता प्रतीत नहीं होता परन्तु रचना-कर्म किसी विचारधारा से निर्धारित नहीं होता। निजी अनुभव से जुड़कर रचनात्मक स्तर पर वह उसे स्वयं नयी सार्थकता देता है। जिनमें यह विवेक नहीं होता वे रचना और विचार को पर्याय समझ लेते हैं। जब विचार-धारा जड़ होने की जगह स्वयं रचनात्मक होने लगती है तो विवके की कठिनाई बढ़ जाती है क्योंकि विचार और संवेदना अथवा अनुभूति से उसे अलग करना प्रायः असंभव हो जाता है। रचना में संश्लेषण-विश्लेषण का यह द्वन्द्व अन्ततः एकात्मकता में समाहार पा लेता है। जहाँ ऐसा नहीं हो पाता वहाँ रचनाकार स्वयं अपनी असफलता अनुभव करने लगता है तथा औरों को भी परितोष प्राप्त नहीं होता।

बिम्ब-चिंतन को मैंने किसी आयातित विचार-धारा से ग्रहण नहीं किया है वरन् मेरे भीतर स्फुरित आकांक्षा ने लीविस और डाली आदि की ओर मुझे प्रवृत्त किया। 'उपमा कालिदासस्य' उपमा को जितना बड़ा अर्थ भारतीय मनीषा ने दिया है उसमें बिम्ब-विधान की सारी संभावनाएँ समाहित रही है और मैंने मात्र संस्कृत काव्यशास्त्र को ही नहीं भारतीय काव्य चेतना को अपना प्रधान आधार माना है। भारतीय काव्य-शास्त्र के अभाव की पूर्ति मेरे विचार से बहुत कुछ शिल्प-शास्त्र कर देता है, जिसका विस्तार काव्य-शास्त्र से कम नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि हिन्दी साहित्य में छायावाद के 'प्रतीक' की और नयी कविता ने 'बिम्ब' को स्थापित किया तो अतिशयोक्ति न होगी। प्रयोगवाद और प्रगतिवाद दोनों पहले प्रतीक से जुड़े रहे यद्यपि उनकी धारणा उसके विषय में बहुत कुछ भिन्न थी। रचनात्मक स्तर पर उनका अलगाव बिम्बात्मकता एवं बिम्ब-विधान की तात्विक मान्यता से उत्पन्न हुआ। प्रयोगवाद ने 'बिम्ब' को प्रायः सहज

रूप में ग्रहण कर लिया परन्तु प्रगतिवाद ने उसे 'रूपवाद' का पर्याय मानकर अग्राह्य घोषित कर दिया। पं0 रामचन्द्र शुक्ल ने बिम्ब-विधान को

असाधारण महत्ता दी है यह भूलते हुए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के मंच से नामवार भाई ने ऐसा प्रतिवाद किया कि स्वयं उनकी स्थिति हास्यास्पद हो गयी। जोश में वे यहाँ तक कह गये कि, रामचरितमानस में कहीं भी बिम्ब नहीं मिलते तो शिवमंगल सिंह 'सुमन' को स्वयं मंच से इसका विरोध करना पड़ा। 'उदित उदय गिरि मंच पर' प्रत्यक्षतः आकर जीवित-जाग्रत बिम्ब का अविचारिक विरोध निष्प्रभ होना ही था सो हुआ। काव्य की सैद्धान्तिक चर्चा में प्रतिवाद को ऐसी सीमा तक नहीं खींचना चाहिए कि वह स्वतः अविश्वसनीय हो जाय जैसे सपाटबयानी।

बिम्ब-दृष्टि मेरे निकट गहराई और व्याप्ति में किसी भी काव्य-तत्व से कम महत्व नहीं रखती। कला में तो रूप ही रूप छाया रहता है, अरूप तो अपवाद लगता है पर काव्य में रूप् को लक्षित करना केवल 'फार्म' तक सीमित नहीं माना जा सकता। काव्य-विधान का स्वयं अपना रूप होता है और उसके भीतर अन्तर्निहित रूप तो और भी महत्व रखता है, शब्द से होकर 'आखर' से 'अर्थ' की रचना-प्रक्रिया प्रतिभा के द्वारा सृजन की पूर्व-निर्धारित हर संभावना का अतिक्रमण करने को तत्पर रहती है। कब कौन कवि कहाँ से बीज अर्जित कर लेता है या उसके भीतर प्राक्तन संस्कार के रूप् में ऐसा बीजाकर स्वयं निहित रहता है, कहना कठिन है पर बिम्बधर्मी कविता और कला एक जीवन्त सत्य है इसमें सन्देह नहीं।

मेरी दृष्टि में नयी कविता

नयी कविता से मैं अनेक रूपों में सम्बद्ध हूँ। काव्य की नयी चेतना की वाहक एक पत्रिका के सम्पादक के नाते, नये कवियों के सहयोगी मित्र के नाते, कभी-कभी स्वयं कुछ कविताएँ लिखने के नाते, और अन्त में साहित्य के एक अध्येता के नाते। कोई भी नाता मेरे लिए, कम महत्वपूर्ण नहीं है पर यहाँ मैं प्रमुख रूप से अन्तिम नाते को दृष्टि में रखकर नयी कविता के विषय में अपनी धारणा व्यक्त करूँगा क्योंकि उसमें तटस्था की अधिक सम्भावना है।

प्रायः सुनने को मिलता है कि नयी कविता नयी वास्तविकता और नये यथार्थ से अनुप्रेरित होते हुए भी लोकमंगल से विरत है। उसमें व्यक्ति चेतना और वैयक्तिक स्वातंत्र्य को तो प्रतिष्ठा मिलती है किन्तु सामाजिक दायित्व और लोक कल्याण की भावना नहीं दिखायी देती। प्रतिष्ठित मान्यताओं की

उसमें उपेक्षा की गयी है किन्तु नयी मान्यताओं को स्थापित नहीं किया गया है। फलतः उसमें व्यापक मानवीय सामाजिक वास्तविकता अथवा आदर्श की उपलब्धि नहीं होती।

ऐसे कथन मुझे सदैव आधिकाधिक गम्भीरतापूर्वक सोचने का बाध्य करते रहे हैं। मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि अधिकतर इनमें वस्तु सत्य की उपेक्षा की गयी है जो न्यायपूर्ण नहीं कही जा सकती। आखिर वास्तविक लोकमंगल का तात्पर्य क्या है ? क्या वह कुछ गिने चुने शब्दों को निरन्तर दोहराने और स्वस्ति-वचनों के कोमल उच्चारण में निहित है अथवा उसे जीवन की विषमताओं का साक्षात्कार करके उनके बीच टूटते, बिखरते, संघर्ष करते हुए संवेदनशील मानव-व्यक्तित्व को नयी आस्था प्रदान करके सम्पन्न किया जा सकता है। अगर पहला अर्थ सही है तो मैं भी कहूँगा कि वैसा लोकमंगल नयी कविता को इष्ट नहीं है, पर यदि दूसरा अर्थ लिखा जाय, जो वास्तव में सही अर्थ है, तो मेरी दृष्टि में आज हिन्दी में अन्य समकालीन काव्यधाराओं की अपेक्षा लोकमंगल की सर्वाधिक प्रतिष्ठा नयी कविता द्वारा ही की जा रही है।

व्यक्ति की प्रधानता

नयी कविता समाज की सजीव एवं सजग इकाई के रूप में व्यक्ति की प्रधानता देती है। व्यक्ति के माध्यम से ही वह लोकमंगल तक पहुँचना चाहती है। ऐसी व्यवस्था को, जिसमें व्यक्ति अपनी सार्थकता और सजगता खो दे, वह समाज के लिए कल्याणकर नहीं समझती, अहमन्यता या अहम् का खोखलापन उसका अभीष्ट नहीं है। युग के संदर्भ में वह एक निश्चित उत्तरदायित्व के साथ सार्थक संवेदनीयत से व्यक्ति की रिक्तता को भर देना चाहती है।

अहंअंतर्गुहावासी ! स्वरति !

क्या मैं चीह्नता

कोई न दूजी राह

जानता क्या नहीं

निज में बद्ध होकर

हैं कहीं निर्वाह ?

यह स्वर इतना स्पष्ट है कि पता नहीं कैसे कोई लोकमंगल के अभाव का आरोप नयी कविता पर लगता है। इस आत्ममंथनमयी व्यक्तिचेतना का स्वाभाविक पर्यवसान व्यापक सामाजिक सत्य के प्रति आत्मदान में होता है।

यह दीप अकेला ; स्नेह भरा, है गर्व भरा मदमाता, पर

इसको भी पंक्ति को दे दो।

दीप को बुझाकर पंकितबद्ध करने में न व्यक्तित्व की सार्थकता है न समाज की। दोनों की सार्थकता इसी में है कि पंक्ति के प्रति आत्मदानी प्रत्येक प्रदीप स्नेहमय ज्योतित और स्वाभिमानी भी रह सके।

नयी कविता अन्तर्वाह्य दोनों प्रकार के मानव-जीवन की अंध-गलियों में प्रवेश करके उसके उपेक्षित पक्ष को भी सहानुभूति प्रदान करने के लिए तत्पर है। उसकी खीझ झुझलाहट व्यंग्यात्मकता, कठोरता, उलझन, और यहाँ तक कि उसकी नीरसता भी उसकी सदाशयता का ही परिणाम है। इस तलवर्ती गंभीर सदाशयता पर आज भी लोग संदेह करते हैं। यह नयी कविता का दुर्भाग्य है। अपनी वैयक्तिक सार्थकता को निगलने वाली सर्पनेत्री संस्कृति के विषाक्त प्रभाव से संघर्ष करने वाला एक नया कवि विद्रूप से आक्रान्त होकर भी अन्ततः आत्मीय स्वर में कहता हैः

इन विक्षुब्ध तरंगों की

अपनी गाथा है

महाकाव्य के किसी सर्ग में

आ जाने दो—

नयी कविता की वह बिखरा हुआ महाकाव्य है जिसमें ऐसी अगणित विक्षुब्ध तरंगों की गाथा समाई हुई है। अपने आस-पास की गली के तमसावृत्त रूग्ण विषष्ण और निर्जीव परिवेश में ज्योति का आवाहन करता हुआ एक दूसरा नया कवि सूर्य से निवेदन करता है-

छुयें यदि ऊँचाइयाँ

तो इस तरह

आलोक पहुँचे

तहों तक नीचाइयों के

सभी पायें ज्योति—

कठिनाई यही है कि नयी कविता की लोकमंगल को प्रतिष्ठित करने की अपनी विधा है जिससे अभी सब यथेष्ठ मात्रा में परिचित नहीं हो पायें हैं। प्रयोगात्मक के आवेश में कुछ विचित्रताओं और अतियों का भी ऐसा समावेश

पृष्ठ संख्या : 29

नयी कविता में हो गया जिससे उसके अन्तर्निहित अभिप्राय पर उपेक्षा और पूर्वाग्रह के अनेक आवरण छा गये, जो अब क्रमशः दूर होते जा रहे हैं।

नयी कविता की सबसे बड़ी कमी यही दिखायी देती है कि वह अपने सृजन और स्वरूप को इतना आकर्षक नहीं बना सकी है कि उसकी विचार भूमि और सैद्धान्तिक-पक्ष से अपरिचित व्यक्ति भी उसके काव्यात्मक आस्वादन, में होकर उसकी निहित गहराई तक पहुँच सके, किन्तु इस आधार पर यह कहना कि वह आत्मरति की द्योतक बन कर ही निःशेष हो जायेगी उपयुक्त नहीं लगता, क्योंकि नयी कविता के विचारशील पाठक इसके प्रमाण है कि पिछले कुछ ही वर्षों में उसने अपने स्वरूप को पर्याप्त प्रशस्त और गरिमामय बना लिया है। उसकी अभिव्यंजना-सामर्थ्य उत्तरोत्तर परिवृद्ध और लोकानुर्वितनी हो रही है, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता।

पृष्ठ संख्या : 30

□

कविता-क्रम

1. अधखुले द्वार
2. अनुभव बाढ़ के बीच
3. अपराजेय
4. अलक-बल्गा
5. अहं का विस्फोट
6. आँख भर देखा कहाँ
7. आँख और मन
8. आस्था
9. इन्द्र-पथ

10. उँगलियों में अभिव्यक्ति
11. एक आँख मुझे देखती है
12. एक घटना
13. एक मुट्ठी रेत
14. क्या कहूँ
15. कछुये की मौत
16. करुणा की कोख़ से
17. कवि का स्वर
18. कवि-गीत
19. कविता-वृक्ष
20. कस्तूरी-मृग
21. कहा मन ने आँख से
22. क़ीमतें
23. खण्डित परछाँही
24. खींच लो अवकाश के जल से स्वरों का ज़ाल
25. गान्धारी आँखें
26. घाटी की चिन्ता
27. चरण-चिह्न
28. छाया गीत
29. छायामृग
30. ज्योति का छल
31. ज्योति की मछलियाँ
32 . जय - गीत
33. जिस झरोखे से निहारा
34. जीवन-मुक्त
35. जीवित कछार
36. टूटा शीशा

37. ताक़तवर मुट्ठी
38. तुम और मैं
39. दया नहीं, दर्द
40. दहकता गुलाब
41. दो दीपक
42. दोहरी चीख़
43. नखत की परछाईं
44. नमन
45. नया अर्थ
46. नया मंसूर
47. नये राष्ट्र का उदय
48. नैनीताल की दोपहर
49. प्रकृति रमणीक है
50. प्रतिपक्ष
51. प्रश्नांकित बुद्ध
52. पंत जी की स्मृति में
53. पत्थरों की भाषा
54. पर दुख
55. परम्परा — 1
56. परम्परा — 2
57. पहेली
58. पाँगर-गंध बिथोरती
59. पानी गहरा है
60. पक्षी और प्रतिच्छाया
61. पीले-मील
62. बादल-भँवरे
63. बादल

64. बादलों का दरिया
65. बिजली
66. बिन्दु से रेखा तक
67. भटकनों में अर्थ
68. भूल क्यों बैठे बटोही
69. मंडेला की मुक्ति पर
70. मल्लाह के लड़के
71. माँ के लिए: एक अंश
72. मैत्री-सुख
73. मैं वह क्यों नहीं हुआ
74. यात्री-मन
75. ये ज़िन्दगी के रास्ते
76. रक्त-तिलक
77. रोटी और कलम
78. लेखनी और तूलिका का साथ
79. वर्षा और भाषा
80. वर्षाकाश
81. स्वधर्म
82. स्पर्श-लेख
83. संवेदना-संकट
84. सत्य की उपलब्धि
85. समय का स्वभाव
86. सहेजी हुई बूँद
87. सूर्य का औरस
88. सूर्यमुखी आँख और सम्पाती
89. सैलाब का संकल्प
90. शृंगों का शृंगार

91. शालिग्राम
92. हँसी के पाश
93. अपूर्ण
94. काल-प्रवाह
95. गति और मुक्ति
96. बन्धन
97. बहुवचन
98. युग्मपथ के तीन दोहे
99. व्यक्ति और समाज
100. विश्वास का हाथ
101. शब्दहीनता
102. शिव और विष
103. संतुलन
104. सार्थकता
105. साक्षात्कार
106. सिंधु द्वारे सिंधु
107. हरसिंगार की गंध चाँदनी रात में
108. हे राम

□

1. **अधखुले द्वार**

अनजाने मैंने ही खोली होगी साँकल
खुल गये हवा के झोंके से होंगे किवाड़,
लघु एक चमकता तारा झलका और दिखा
आकाश-खण्ड अधखुले द्वार की लिए आड़।

वह नभ का टुकड़ा खुली हवा में डूबा-सा

तम भरा मगर तारों की किरनों से उजाला।
आँखों आँखों से होकर तैर गया सीधे—
मन तक जिसमें था रुँधा हुआ जीवन पिछला।

जाने कितना हो गया समय दरवाज़ों को
मैंने अपने ही आप बन्द कर रक्खा था।
कमरे के भीतर की दुनिया तक सीमित हो
मैं ही अपने से कहा किया अपनी गाथा।

उस गाथा को अपने ही रचे अँधेरे में
देता रहता था झूम-झूम नित नये छंद।
थी आसमान को भूल चुकीं आँखें बिलकुल
अच्छे लगने लग गये उन्हें थे द्वार बन्द।

कविता-पृष्ठ संख्या : 1

पर आज अचानक आसमान के टुकड़े ने
कमरे के भीतर राह बना ही ली आख़िर।
मेरे मन न मुझको इतना मजबूर किया
उठकर मैंने सब खोल दिये दरवाज़े फिर।

लेकिन सब दरवाज़ों के खुल जाने पर भी
जाने क्यों वह आकाश साफ़ दीखता नहीं।
नज़रों के आगे आकर छायी जाती है
मन के भीतर की रुँधी ज़िंदगी कहीं-कहीं।

कविता-पृष्ठ संख्या : 2

2. अनुभव बाढ़ के बीच

डबडबायी आँख सी गंगा बढ़ी है।

उमड़ती जल-राशि किस तल तक चढ़ी है।

बड़ी लहरों, लघु लहर का मन मिला है।

आँसुओं में एकता का सिलसिला है।

नियति ने यों जलमयी प्रतिमा गढ़ी है।

डबडबायी आँख सी गंगा बढ़ी है।

दूसरा तट है मगर दिखता नहीं है |

कवि बिना अनुभव किये लिखता नहीं है |

सत्य की पहचान सोने से मढ़ी है |

डबडबायी आँख सी गंगा बही है |

कभी जल के बिना प्यासों मारती है।

कभी जल हो, काल-काल पुकारती है।

प्रकृति ने यह कौन सी पाटी पढ़ी है।

डबडबायी आँख सी गंगा बढ़ी है।

3. **अपराजेय**

रह गयी अवरोध की मुट्ठी
बँधी की बँधी
अपनी राह
अपराजेय जीवन बह गया।
लहर-स्वर में
किन्तु,
इतना कह गया
'जो है प्रवाहित, तरल
द्रव, जड़ता-रहित
वह बँध नहीं सकता
किसी भी शक्ति की
ऐंठी उँगलियों से।
समय की संधियों के बीच
लेती है प्रगति
कोई न कोई पंथ ऐसा खोज
जिससे फूट पड़ता है
तिरोहित सत्य
अपराजेय।'

कविता-पृष्ठ संख्या : 4

4. **अलक-बल्गा**

कुछ ऐसा हुआ
कि तुम्हारी आँख पर आयी हुई

एक अलक का सिरा
मेरे होठों में आ गया;

तुमने अपना चेहरा
नज़दीक से दूर किया
फिर भी वह नहीं छुटी
और खिंचकर तनती गयी।

मैं समझ गया
तुम्हें वश में रखने के लिए
मुझ कैसी लगाम चाहिए !

शायद
अपने भीतर की अश्वमुखी आग को
समुद्र ऐसी ही वल्गा से सँभाले रहता है।

कविता-पृष्ठ संख्या : 5

5. अहं का विस्फोट

बड़ा अहंकार हुआ
वज्रोपम तीव्र किरण शल्य को
प्रविष्ट किया
अणु के अलक्ष्य सौर-मंडल के
सीमित अवकाश में।
पाया क्या है धरती को चिथड़े सा फाड़कर ?
केवल विस्फोट अहं का अपने,
कर डाले
अपनी ही प्रतिमा के खंड खंड !

रच कर दिखाते नगण्य एक अणु ही तब जानता
विध्वंसक नहीं हो, रचियता हो, मानता।

कविता-पृष्ठ संख्या : 6

6. **आँख-भर देखा कहाँ....**

आँख-भर देखा कहाँ, आँख भर आयी ।
उलझी ही रही दीठ ;
वह हिमगगिरिमाल ढीठ—
मेरे ही आँसू के झीने पट ओट छिपी,
देखता रहा जी भर, दी नहीं दिखायी ।
पंक्ति बद्ध देवदारु —
रोमिल, श्लथ, दीर्घ, चारु ।
चंदन पर श्यामल कस्तूरी की गंध-सी
जलदों की छाया हिम-शृंगों पर छायी ।
शिखरों के पार शिखर,
बिंध कर दृग गये बिखर,
घाटी के पंछी-सी गहरे मन में उतरी
बदरी-केदारमयी मरकत गहरायी ।
आँख-भर देखा कहाँ, आँख भर आयी ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 7

7 . **आँख और मन**

कहा मन ने आँख से
तुम रमो उज्ज्वल शैल-शृंगों में ।
मैं रहूँगा लीन तब तक
और अंगों में ।
गया जिस-जिस अंग तक मन
विहग-शिशु सा

खोलकर निज पाँख ।

चकित हो पाया यही

वह तो कभी का

बन चुका है आँख !

कविता-पृष्ठ संख्या : 8

8. **आस्था**

जो कुछ प्राणों में है

प्यार नहीं,

पीर नहीं,

प्यास नहीं—

जो कुछ आँखों में है,

स्वप्न नहीं,

अश्रु नहीं,

हास नहीं—

जो कुछ अंगों में है,

रूप नहीं,

रक्त नहीं,

माँस नहीं —

जो कुछ शब्दों में है,

अर्थ नहीं,

नाद नहीं,

श्वास नहीं—

उस पर आस्था मेरी।

उस पर श्रद्धा मेरी ।

उस पर पूजा मेरी ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 9

9. **इन्द्र-पथ**

कामधेनु परम्परा में,
सुरभि-माता ने जिसे अपने पयोधर
सोम से भर कर पिलाये
इन्द्र ने जाना नहीं अब तक ।
स्वाद पहचाना नहीं अब तक,
वक्ष से बहते किसी भी दूध का ।
जानते हैं सब कथाएँ स्वर्गवासी,
अग्नि पुष्पा हैं सहोदर ।
जन्म से ही प्रज्वलित जठराग्नि,
लीलती जाती सरोवर ।
उदर में झीलें समाती रहीं, अहरह ।
सोमरस की धार भर जाती उन्हें
जब रिक्त होती,
शंख जैसा कंठ बजता स्वयं बारम्बार ।
पारिजाती गौर तन
कुछ धवल, अरुणाभ सुन्दर
शची-मन पर
रहे छाये अधर वक्री,
जानता है इन्द्र शिप्री ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 10

हरित-वर्णी देश

लहराते चतुर्दिक !
स्वर्ण-रथ पर
दीप्ति उज्ज्वल वेश
युद्ध की हर श्वास
देती विजय का संदेश ।
निरन्तर उच्छ्वंसित होती कामनाएँ,
शिराओं से फूटता रहता पराक्रम ।
वृत्र, त्वष्टा, नमुचि, शंबर
बलि, विरोचन, बाण, असिधर
नये निर्मित आयुधों से
सतत सज्जित !
बार-बार परास्त होता,
किन्तु होते कहाँ लज्जित ।
व्यूह रचते, दृढ़ जटिलतर,
किन्तु डरते,
इन्द्र के आगे समर में
नहीं आते समाने वे ।
सब कपट-छल
साध लेते इन्द्र,
उनसे अधिक तन्त्री,
इन्द्रजाली,
भाग्यशाली।

10. उँगलियों में अभिव्यक्ति

माना, उँगलियों की एकता
कर्मशीलता का प्रतीक है ।
अँगूठे की लोच और पकड़
दोनों का मिलकर
क़लम की ताक़त बनना भी ठीक है ।

मूलतः अलग होती हुई उँगलियाँ
हथेली से जुड़कर

मुट्ठी की तरह सबको एक कर देती हैं ।
निर्बल हाथों को भी
संकल्प के क्षणों में
शक्ति से भर देती हैं ।
पाँचों पांडवों को जोड़ती
यज्ञमयी द्रौपदी ही महाशक्ति है ।
प्राणों को मन में समेटती
व्यक्ति की आत्मा ही अभिव्यक्ति है ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 12

11. **एक आँख मुझे देखती है**

आसमान
एक खुली हुई आँख
चाँद
श्वेत पुतली
हर उजाले पाख
मुझे टकटकी लगाकर
देखती रहती है ।
शब्द से जो कहना असंभव है,
अर्थ-बहुल मौन से कहती है ।
लगता है
सृष्टि के पीछे
कहीं एक दृष्टि है
जो किरनों से अनायास

मेरे मन गहती है।
एक खुली हुई आँख,
मुझे देखती ही नहीं,
मेरा दुख भी सहती है ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 13

12. **एक घटना**

एक घटना
ठीक वैसे ही
कि जैसे
बहुत पहले जानता था
घटी ।

मिली हलकी झलक
समयातीत निज अस्तित्व की
काल की काई अचानक फटी।
शृंखला पर कर्म की, विश्वास कुछ-कुछ बढ़ा
बुद्धि-मन की सर्वतन्त्र स्वतन्त्रता से
आस्था कुछ हटी ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 14

13. **एक मुट्ठी रेत**

मैं
अपने हाथ में

एक मुट्ठी रेत लेकर
सोचता हूँ
उस प्रचण्ड धार के बारे में
जिसने
पहाड़ों को तोड़कर
पत्थरों को फोड़कर
उन्हें चिकना बनाते-बनाते
इस हालत में ला दिया है
कि उन पर
मामूली पैर का निशान भी बन जाए
पत्थर को पानी कर देती है धार
लेकिन आँख हर बार
पानी को पत्थर बना देती है,
जब तकलीफ़ें कर जाती हैं
सीमा पार
और फिर से शुरू हो जाता है

धार का काम,
लगातार अविराम
पहाड़ों को तोड़ना
पत्थरों को फोड़ना
रास्तों को मोड़ना
हर बीते हुए को
दूर, बहुत दूर
पीछे छोड़ना
मेरी मुट्ठी की रेत का
हर एक कण

हर एक क्षण
धार की याद को
अपने में सहेजे है,
मुट्ठी खोलकर, मैं
रेत को हर बन्धन से मुक्त करता हूँ।
समुद्र तक पहुँचने की
कल्पना के साथ
इसने मुझे धार का अनुभव दिया है,
यह क्या कम किया है ?

कविता-पृष्ठ संख्या : 16

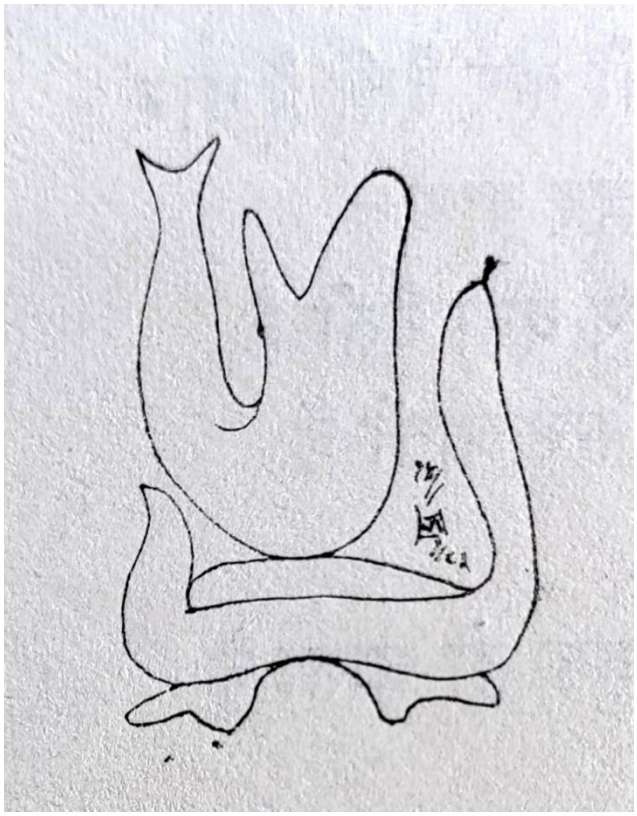

14 . **क्या कहूँ**

पुण्य हूँ या पाप हूँ ।
क्या कहूँ
जो कुछ भी हूँ
अपने आप हूँ।

वही दाह देता है,
जलता हूँ,
वही राह देता है,
चलता हूँ,
भीतर सँजोये
कहीं
ऐसा एक ताप हूँ ।

पुण्य हूँ या पाप हूँ।
क्या कहूँ
जो कुछ भी हूँ
अपने आप हूँ ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 17

15. **कछुए की मौत**

मान से भरे होठ
रेत के ठंडे पड़े ढूह पर
विक्षिप्त कछुए सा महासिन्धु
माथा पटकता है बार बार,
टूट कर गिरता नहीं हैं फिर भी कगार ।

युगों से ज्यों का त्यों टिका है
क्रूरता का शिलापीठ
आहत स्वाभिमान लिये
लौट-लौट जाता है पारावार ।

पिछले तिक्त अनुभवों की
सारी गुह्यताओं को बन्द किये
रुद्ध का रुद्ध है अब भी द्वार ।
काम के ग्रन्थिमय सूत्रों से जुड़ी हुई
व्यथा भरी वही कथा
पुनर्वार, पुनर्वार ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 18

मुक्ति मिले
अगर कहीं भीतर की आग से
अपने आप जल जाये ।

अतलान्तक जलाधार
पपड़ियाँ वे भारहीन
सूखे जमे फेन की
धरती की दरकी हुई छाती पर
चिथड़ों सी पड़ी रहें दुर्निवार ।

मरे हुए कछुए की पीठ पर
उग आयें
नीले विष-वृक्षों की झाड़ियाँ
चमकीली काँटेदार ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 19

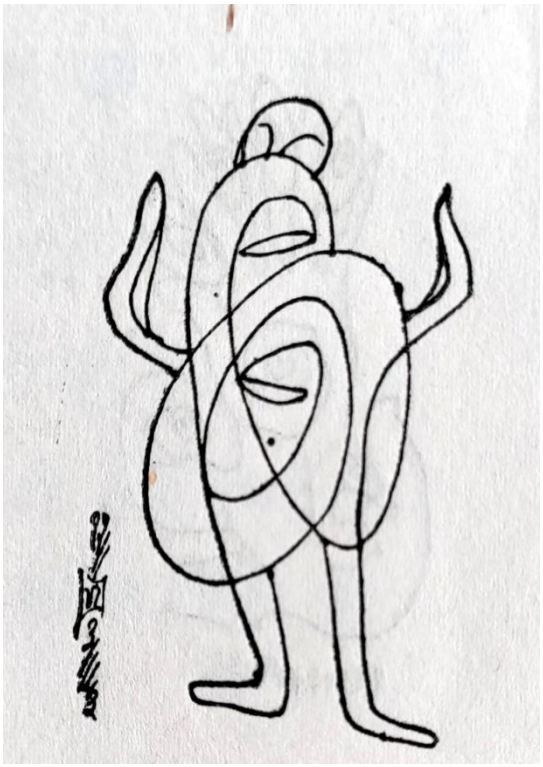

16. **करुणा की कोख़ से**

अपने आप
दूसरों की पीड़ा से सिहर-सिहर
मन जिसका दूख-दूख उठता है
गर्वोन्नत मेरा माथा
उसके पाँवों पर ।

सृष्टि का वह क्षण अमोघ था,
प्राणी ने अपने से परे भी
जब किसी अन्य की
पीड़ा को पहचाना ।

हिंसा और भय की दो आँखों के बीच

उग आया एक और नया नेत्र
प्रज्ज्वलित होकर भी द्योतक शिवत्व का

पशु ने गड़ाये दाँत उस पर भी
घात लगा पंजे चलाये
फिर फिसल गये बार बार,

कविता-पृष्ठ संख्या : 20

अन्त में हुई पशुपति की विजय
और पशु की हार, दुर्निवार !

कौन है पिता
मुझको ज्ञात नहीं
मैं केवल इतना ही जानता हूँ,
मानवता उपजी है
करुणा की कोख़ से ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 21

17. **कवि का स्वर**

कठिन वाचालता
सहसा हो गयी चुप ।
मुखरता सहमी
कमल के पात में छुप ।

कहूँ किससे, क्या, कहाँ तक !
सहूँ जितना भी सहा जाये,
जहाँ तक !

एक स्वर निर्बाध
बजता ही रहेगा ।
अनकहे, निःशब्द
कहता ही रहेगा ।

युग-नियामक
वही कवि का स्वर ।
वही सब का स्वर ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 22

18. **कवि-गीत**

कवि वही जो अकथनीय कहे।
किन्तु सारी मुखरता के बीच मौन रहे ।

शब्द गूंथे,
स्वयं अपने गूंथने पर
कभी रीझे, कभी खीझे, कभी बोल सहे ।
कवि वही जो अकथनीय कहे ।

सिद्ध हो जिसको
मनोमय-मुक्ति का सौन्दर्य-साधन ।
भाव-झंकृति रूप जिसका,

अलंकृति जिसका प्रसाधन ।
सिर्फ़ अपना नहीं, सबका ताप जिसे दहे ।
कवि वही जो अकथनीय कहे ।

रुष्ट हो तो, जगा दे आक्रोश नभ का,
द्रवित हो तो, सृष्टि सारी साथ-साथ बहे ।
कवि वही जो अकथनीय कहे ।

शक्ति के संचार से,
या अर्थ के संभार से—
प्रबल झंझा-वात से,
या घात-प्रत्याघात से—
जहाँ थकने लगे, वाणी स्वयं हाथ गहे ।
कवि वही जो अकथनीय कहे ।

शान्ति मन में, क्रान्ति का संकल्प लेकर टिकी हो ।
कहीं भी गिरवी न हो ईमान जिसका,
कहीं भी प्रज्ञा न जिसकी बिकी हो ।

जो निरन्तर, नयी रचना-धर्मिता से रहे पूरित
लेखनी जिसकी कलुष में डूब कर भी,
विशद उज्जवल कीर्ति-लाभ लहे !
कवि वही जो अकथनीय कहे।

कविता-पृष्ठ संख्या : 24

19. **कविता-वृक्ष**

आकाश तक
अपने शतमुख प्रस्फुटन का
सौरभ-संदेश भेजने के लिए
हर कवि को
कविता-वृक्ष बनना ही पड़ता है ।

ज़िंदाबीज की तरह

मिट्टी फोड़ कर
जहाँ वह
अपनी अँखुआयी दृष्टि से —
साधिकार
तारों भरे अंतरिक्ष को देखता है
वहीं पैरों की अनगिन ऊँगलियों को
रेशा-रेशा गहराई में उतार कर
न जाने कहाँ कहाँ से रस खींच लाता है
वही उसकी जीभें हैं,
वही उसके होठ
जिनसे वह निरन्तर

कुछ न कुछ पीता रहता है
उसे पादप यों ही नहीं कहा जाता है
कवि चाहे भी तो
धरती से अपना नाता तोड़ कर
आकाशबेल की तरह
परजीवी होकर जी नहीं सकता

उसकी आत्मा उसे धिक्कारेगी
भीतर ही भीतर चाबुकों से मारेगी

हरियाली का सुआपंखी स्वप्न-संकल्प
निर्मूल होकर हरियाली को ही खाने लगे
ऐसा विद्रूप संबंध
कविता में कभी हो ही नहीं सकता |

कविता परजीवी लता बनकर
न कभी पनपी है, न कभी पनपेगी
वह धरती पर अपनी जड़े जमाये बिना
उसकी गहराई को पोर-पोर नापे बिना
कभी अनन्त आकाश नहीं छू सकती ।

कवि को
कविता के हित में,
धरती-आकाश के बीच
कविता-वृक्ष बनना ही पड़ता है ।

उसकी अटूट निजता
उसकी अचूक पहचान
उसकी सहज गति
नियति और परिणति
लयात्मकता के
बहुआयामी क्रम में
घने अँधेरे के बीच

कौंधते उजाले की तरह प्रकट होती है ।
कवि चाहे न चाहे
कविताएँ अनायास

कभी टहनियाँ और डालें बनकर
कभी कोंपले और पत्तियाँ बनकर
कभी कलियाँ और तितलियाँ बनकर

फूटती रहती हैं
उपतजी रहती हैं
खिलती रहती हैं।
कभी अलग-अलग
कभी एक साथ !
रचना के हाथों में रहता है,
रचियता का हाथ ।

उनका अलगाव, अलगाव नहीं होता
उनका लगाव, लगाव नहीं होता ।
दोनों का दंश भोगे बिना
कवि का स्वभाव, स्वभाव नहीं होता ।
किसी तरह, कुछ भी लिख लेना
कविता लिखना नहीं है ।
कविता लिखने के लिए
कवि को खप जाना पड़ता है
धरती में ।

कविता, न रोग है, न विकार
वह तो आत्मा का परिष्कार है ।
कविता अभावों के बीच
भावों का संचार है ।
कविता स्वभाव है,
कविता संस्कार है ।

कविता अपने में,
स्वयं एक संसार है ।

आग-पानी विष-अमृत, तिक्त मधुर
रोष-तोष, जीवन-मरण, जागृति-स्वप्न
धरती-अन्तरिक्ष के बीच
क्या नहीं है कविता में, कवि में ।

कविता-वृक्ष के हर दल पर
मुकुंद की छवि अंकित है ।
संसार न जाने क्यों
कविता के विषय में शंकित हैं ।

आप माने न माने
मुझे अपने से भी अधिक
आस्था है कविता पर ।
मनुष्य की भविता पर ।
क्योंकि मुझे लगता है
मेरा अस्तित्व स्वयं एक वृक्ष है
कभी रंगो-रेखाओं में
कभी अक्षरों-आकांक्षाओं में
मैं अपने को रूपायित करता हूँ ।
बाहर से रीता रहकर भी
भीतर से भरता हूँ ।
कोई मुझे सींचे न सींचे
उगने के क्रम में
मैं स्वय अपनी मृत्यु से बचता हूँ ।
चुपचाप, अपने आप
बीजों की शृंखला रचता हूँ ।

जब मुझे बोलना होता है
पक्षियों के स्वरों में बोलता हूँ ।
जब मुझे उड़ना होता है
उन्हीं के साथ पंखों को तोलता हूँ ।
धरती पर लौट आता हूँ
चोंच में तिनकों की तरह
किरनें दबाये ।
अपने मनोजाल में
छाया-प्रतिबिम्बित हो
स्वयं हो उठता हूँ उर्ध्वमूल !
देखते देखते
सृष्टि का आदिम प्रतीक बन जाता हूँ ।
आकाशी चेतना के अवतरण में
तीर सा तन जाता हूँ ।
उलटे प्रतीक की तरह
जीना भी कोई जीना है ?
मैं पूछता हूँ
आदमी से उसका सीधापन
किसने छीना है ?
भले ही उसकी भुजाएँ
अन्तरिक्ष की ओर उठी रहें
पर वह कभी
आकाश से आया नहीं ।
धरती से उपजा है
धरती से लगा है ।
जे भी धरती से जुड़ा है,
वहीं उसका सगा है ।

कविता वृक्ष
धरती पर उगा है,
धरती का बेटा है ।
धरती ने उसे
अपना माना है,
वत्सल बाहों में समेटा है ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 29

20. **कस्तूरी मृग**

चाहे वह भय की हों
या शंका की
या स्नेह की,
बालों का स्पर्श
हमेशा कल्पनाएँ जागता रहा है ।
ऐसा हो नहीं सकता
कि मुश्क के नाभे को आप छुएँ
और किसी हिरने की मौत का
अहसास आपको न हो ।

चमकदार काले महीन दाने
आप देखें
और हिरनी की बड़ी-बड़ी
डहडही आँखें
आपकी आँखों में न उतर जायँ ।

मान लीजिए कि मन
मुश्क की तरह एक सुगंधित चीज़ है
और प्रकृति ने
किसी हिरण्यगर्भ की नाभि से निकाल कर

उसे चुपचाप
मानवीय चेतना की पर्तों में समो दिया है,
साथ ही यह भी मान लीजिए
कि उसी सुगंध के लिए आदमी
एक फूल से दूसरे फूल तक भटकता है ।
हर किसी को मन का मीत मान कर
सुगंध-स्रोत पाने के लिए
मुश्क के एक-एक दाने के लिए
जगह-जगह पेड़-पौधों में अटकता है ।
पर्त पर पर्त खोल कर
दाने बिखेरने को व्यग्र रहता है;
उसे लगता है—
यही अस्तित्व का आधार है ।
यही व्यक्तित्व का सार है ।
पर आप क्या कहेंगे
अगर वे दाने भी नक़ली निकल जायँ ?
एक मरीचिका बन कर
प्यासे हिरने का हर सपना निगल जायँ ?
मैं जानता हूँ
आपकी ज़ुबान भी सूखने लगेगी
और आप समय को, ओस की तरह चाट कर
युगों-युगों के लिए चुप हो जायेंगे ।

हो सकता है वे नक़ली दाने भी
नाभे से नीचे गिर कर
निर्गंध धूल को
कुछ देर तक सुवासित कर दे;
पर दम तोड़ते हिरन को
यह विश्वास कौन देगा
कि सुगंध का असली स्रोत तो

कविता-पृष्ठ संख्या : 31

उसकी अपनी ही नाभि में संजोया था ।
हमेशा से वह उसी में था,
बाहर न कहीं छूटा था,
न कहीं खोया था ।

वह निरर्थक भार भी नहीं था,
अनजाने ही जिसे उसने जीवन भर ढोया था ।

नक़ली दाने बनाना
या उन्हें धूल में मिलाना
मुश्क़ की अवमानना है,
मन की सुगंध पहचानना ही
सही अर्थ में आदमी को जानना है ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 32

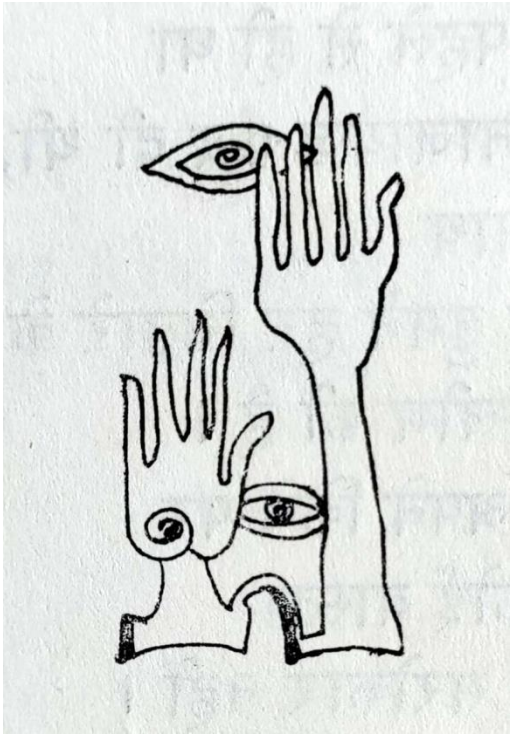

21. कहा मन ने आँख से

कहा मन ने आँख से—
तुम रमो उज्ज्वल शैल-शृंगों में,
मैं रहूँगा लीन तब तक और अंगों में ।

गया जिस-जिस अंग तक मन
विहग शिशु सा खोलकर निज पाँख,
चकित हो पाया यही —
वह तो कभी का बन चुका है आँख ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 33

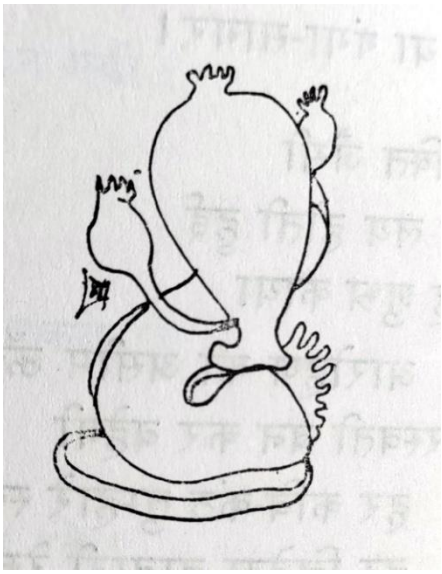

22. **कीमतें**

कौन खाई है
कि जिसको पाटती है क़ीमतें ।

उम्र को
तेज़ाब बनकर चाटती हैं क़ीमतें ।

आदमी को
पेट का चूहा बनाकर रात-दिन,

नोचती हैं,
कोंचती हैं,
काटती हैं क़ीमतें ।

23. खंडित परछाँही

लहरों पर छलकती हुई,
लम्बी परछाँही —
आँखों में हिलकोरती रही ।
छप-छप करती हुई एक नाव
तिरछी गति से
उसकी चमक को
बीच से चीरती चली गयी,
इस ओर से उस ओर तक ।

तटस्थ मैं,
विवश देखता रहा
एक टूटती हुई छवि को ।
हिलते-डोलते पानी पर
वह कम्पित परछाँही
पारे की तरह
बिखर गयी ।

उसे
सीध में, लाने में,
कितना समय लगेगा
कौन बताये |

परछाँही में खोया हुआ
खण्डित चन्द्र-बिम्ब
लहरों से अपने को
अलग करने की
नाकाम कोशिश करता रहा,

तब तक
जब तक नाव
जल पर शब्द करती रही।

नाव की तरह बार-बार
हिलती-डोलती परछाँही
किनारे तक पहुँचते-पहुँचते
जल के कम्पन सी
निः शब्द हो गयी,
निराकार —

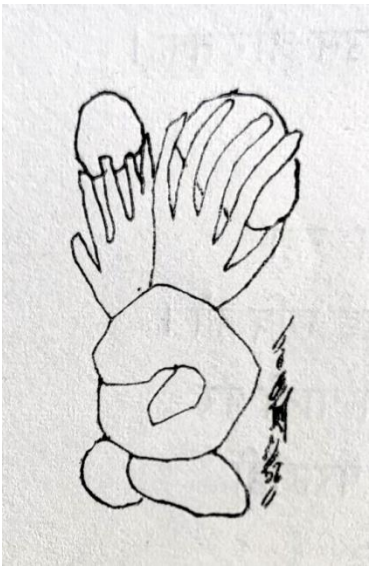

24. खींच लो अवकाश के जल से स्वरों का जाल

खींच लो अवकाश के जल से स्वरों का जाल
चेतना की नील लहरों बीच,
तैरती इन वासना की मछलियों को—
मौन हो देखो अकम्पित ।

कहीं मन की गहनता में
खुल रही है गाँठ,
निबिड़ बन्धन-रुद्ध
दोनों छोर ढीले पड़ रहे हैं,
लग रहा है वेध कर अनुभूति-शर से काल,
उँगलियों की पोर से अवढार छूकर देख लूँगा
सृष्टि से अपने अनागत
कंटकित सम्बन्ध की कोमल सुदीर्घ मृणाल ।
खींच लो अवकाश के जल से स्वरों का जाल |

25. **गान्धारी आँखें**

संसार यही समझता रहा है
कि मैंने अपने पति के
अंधे होने के कारण
अपनी आँखों पर
पट्टी बाँध ली ।

पर, क्या कोई मानेगा
अगर मैं कहूँ
वास्तविकता
कुछ और ही थी ।

स्वाभाविक है
अंधे राजा के राज में
अंधेर होना।
चाहे पुत्र हों, चाहे प्रजाजन
चाहे शत्रु हों चाहे स्नेह-भाजन

राजा की आँख पर
सभी की नज़र रहती है ।
वहाँ उन्हें दृष्टिदोष दीखा नहीं

कविता-पृष्ठ संख्या : 38

कि सारे नैतिक बन्धन
शिथिल हो जाते हैं
समाज में, या तो राजा हो ही नहीं

और अगर हो, तो सच्ची आँख वाला हो ।

मुझसे देखा नहीं गया
प्रजा का दुख ।

मैं गले नहीं उतार सकी,
अपने ही शत-पुत्रों का
भौतिक-अनैतिक सुख ।

दुःशासन, दुर्योधन जैसे भ्रष्ट
मैंने नहीं रक्खे थे उनका नाम ।
इनमें मूर्तिमान हो उठे हैं—
उनके अपने ही काम ।

माँ के नाते
मैंने भी उनका पक्ष लिया
मुझे कृष्ण की तेजस्विता ने
मन ही मन, धिक्कार दिया ।
पाण्डवों की पीड़ा ने
द्रौपदी की व्रीड़ा ने
मेरा सारा वात्सल्य नकार दिया ।
अन्ततः बहुत बार सोचा
आँखें मूँदकर देखा
मन के एकान्त में,
थोड़ी सी शान्ति मिली
मैंने पाया—

अशिव से—
आँख बचाना भी,
शिवत्व की पहचान है,
कविता-पृष्ठ संख्या : 39
अनीति का साक्षी न होना भी
नीतिका सम्मान है ।

एक दिन
घृतराष्ट्र की आँखों की ओर देख
मैंने अपने उत्तरीय का सिरा
स्वयं ही फाड़कर

अपनी ही आँखों पर
कस कर बाँध लिया ।
जब अचानक उन्होंने जाना
अपने हाथों से मेरी आँखें टटोलीं
मेरे हाथ छुए,
आँसू बहाये
पुलके, प्रसन्न हुए
मैंने समझ, अनचाहे ही —
मुझे दोहरा वरदान मिला
और इस तरह
पति के दुख से दुखी होकर नहीं,
पति के सुख से सुखी होकर—
उनकी सहधर्मिता में
मैंने स्वयं भी घना अन्धकार साध लिया ।
सुन सुन कर उन्होंने यही माना

कि मैंने अपने पुत्रों का,
सही या ग़लत
हमेशा पक्ष लिया
पर उन्होंने कभी नहीं जाना
कि एक अन्धे राजा के राज में
अन्याय न सह सकने के कारण
किसी आर्तमना नारी ने कातर निरीह हो
स्वेच्छा से अपनी आँखों पर
जीवन भर के लिए पट्टी के रूप में
अन्धापन बाँध लिया ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 40

26. **घाटी की चिन्ता**

सरिता-जल में
पैर डाल कर
आँखें मूँदे, शीश झुकाए,
सोच रही है कब से
बादल ओढ़े घाटी ।

कितने तीखे अनुतापों को,
आघातों को
सहते सहते
जाने कैसे असह दर्द के बाद—
बन गयी होगी पत्थर,
इस रसमय धरती की माटी ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 41

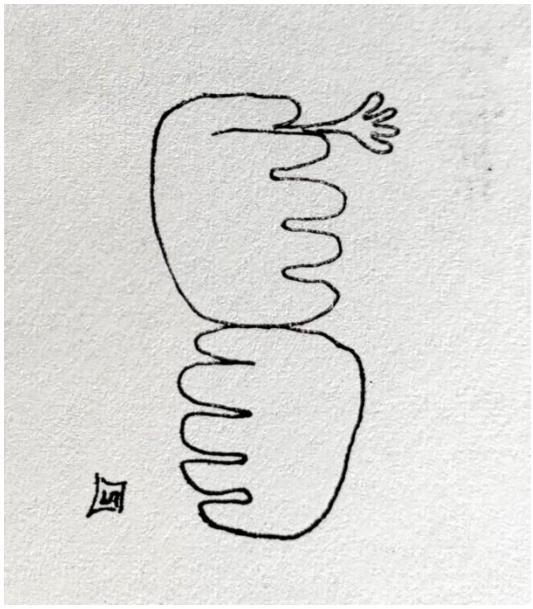

27. **चरण-चिह्न**

पत्थर की छाती पर
ऊँची चट्टानों के गर्व पर,
नीची शिलाओं की धरती पर ।
सुनता हूँ .....
बनवासी राम के—
चित्रकूट में अब भी अंकित हैं चरण चिह्न,
चाहता हूँ मैं भी कहीं—
ऐसा ही एक चिह्न
जाऊँ छोड़ धरती की पीठ पर ।
भोर की इस पावन वेला में
करता हूँ तुमको आमन्त्रित मैं,
दो मुझको शक्ति—
और मेरी इस इच्छा में तुम भी
सहजीवी बनो ।

28. **छाया-गीत**

गंगाजल पर चलती
बादल की छाया ।
धूप में मछलियों सी
चमचम हिलकोरों पर
किन काले पंखों का साया ।

स्याही की झीनी
जल-चादर के नीचे
लहरों का रूप
तनिक और उभर आया ।

उठी एक उर्मि कहीं मेरे भीतर, जैसे —
किसी ने अँधेरे में गीत गुनगुनाया ।

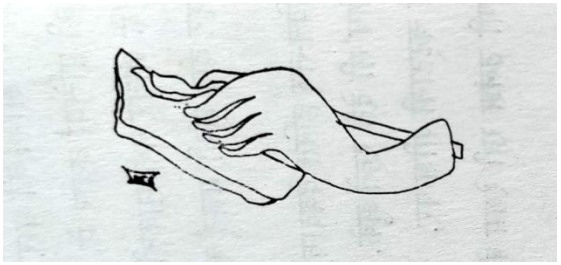

29. **छाया मृग**

तुमसे दूर

बार-बार बेतहाशा
भागते हैं मेरे पाँव |
छोड़ते हुए पीछे
नदी-नाले शहर-गाँव ।

फिर भी—
जहाँ थक कर दम लेते हैं,
पाते हैं सर पर तुम्हारी छाँव ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 44

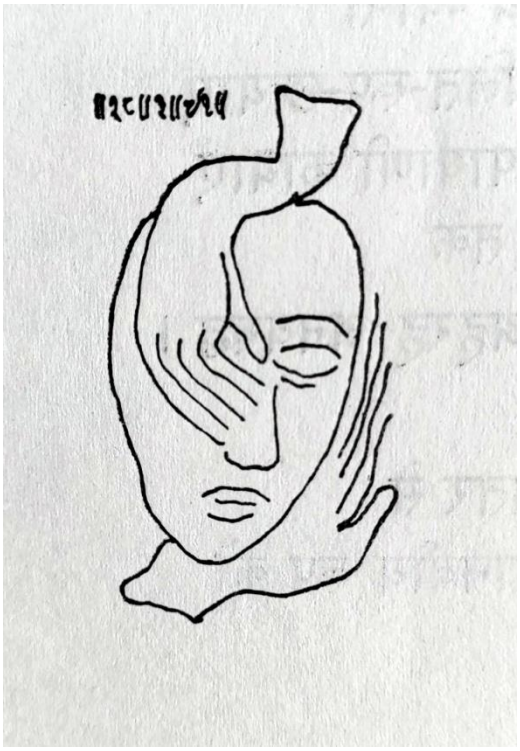

30. **ज्योति का छल**

इस मरु में
फेनिल मुख दौड़ो मत
छाया यह किरनों की

केवल छलावा है, —नीर नहीं ।
मानव की प्रज्ञा को, अनपेक्षित
ऐसी गति, ऐसा भ्रम !
मेरी भी सुनो भला
मैं भी हूँ दूध का जला
मुझको ज्योति ने छला,
मट्ठे को फूँक-फूँक पीता हूँ ।
किरनों की नहीं,
तप्त अनुभव की छाया में जीता हूँ ।

बिना खपे, बिना तपे
अनायास मरुथल में
इतनी जलराशि कहाँ मिलती है ।
छनकर अनुभूति की शिराओं से
आत्मा तक केवल कुछ बूंदें आ पाती हैं ।
पानी बन बहे, जहाँ ज्योति,
रुको,
रुदन नहीं ज्योति का स्वभाव,
कहीं छल होगा ।

31. ज्योति की मछलियाँ

बदलों की झील के ऊपर —
खिला शिखरों का कमल-वन ।
भोर ने भर मूठ कुंकुम-किरन-केसर
इस तरह फेंकी—
वनों के गहन पुरइन-पात सारे रंग उठे ।
ज्योति की बहुरंग, झिलमिल मछलियाँ
झील के तलहीन बादल-नीर में
बहुत गहरे, बहुत गहरे, तिर गयीं ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 46

32. जय-गीत

इतनी बड़ी जीत
कैसे सहेजूँ !
कुछ साध कर मौन,
कुछ पूछ कर कौन,

तुमने लिए जान
सब दाँव मेरे ।
बिखरा घने केश
सज पावसी वेश,
तुमने दिये बाँध
फिर पाँव मेरे ।
होंठों सिये होंठ
गालों पड़ी गोंठ,
फिर काँप कर—
साँस में साँस खोयी ।
पैरों घिसा माथ,
बालों फिरा हाथ,
ममता, —दबी
वासना में पिरोयी ।
यह हार-उपहार,
किस देस भेजूँ!
इतनी बड़ी जीत
कैसे सहेजूँ !

कविता-पृष्ठ संख्या : 47

33. **जिस झारोखे से निहारा**

जिस झरोखें से निहारा
खुले कोरे पृष्ठ-जैसा
वही उज्ज्वल
वही पावन
रूप ।

वही उठती उर्मियों-सी शैल-मालाएँ
वही अन्तश्चेतना-सा गहन वन-विस्तार
वही उर्वर कल्पना-से फूटते जल-स्रोत
वही दृढ़ मांसल भुजाओं-से कसे पाषाण
वही चंचल वासना-सी बिछलती नदियाँ
पारदर्शी वही शीशे की तरह आकाश
और किरनों से झलाझल
वही मुझको बेधते हिमकोण

जिस झारोखे से निहारा
वही उज्ज्वल
वही पावन
वही निर्मल
रूप।

कविता-पृष्ठ संख्या : 48

34. **जीवन-मुक्त**

(कवि निराला के प्रति, उनके जीवन-काल में लिखित)

अमर हिन्दी के हिमालय ! वंदनीय, विशाल ।
पर्व-पावन प्राण, ज्योतित गर्व-उन्नत-भाल ।।
दीर्घनासा, अधर पतले, सबल वृषभस्कंध ।
युग-पुरुष, युग-बाहु लम्बित, युग-चरण निर्बंध ।।
वसन गैरिक, सांध्य-धन के आवरण में सूर्य |
धूलि-धूसर देह श्लथ, अन्तर प्रभा से पूर्य ।।
दृष्टि तीखी, ज्यों समय पर कर रही हो व्यंग ।
गीत के स्वर, ताल-लय, पर थहर उठते अंग ।।

स्वगत-मुखरित-मौन, गुरु-गम्भीर, धीर-प्रशान्त ।
पी गये युग का गरल, शंकर सदृश निर्भ्रान्त ।।
हो चुकीं, अब हो चुकीं, सब यातनाएँ मुक्त ।
रम्य सुरसरि-तीर तन-मन-मुक्त, जीवन-मुक्त ।।

कविता-पृष्ठ संख्या : 49

35. जीवित कछार

हँसिया हँस दिया
हाथ कुलबुला उठे —
देखते - देखते
पूरे कछार की
हज़ामत हो गयी है।
ऊँटो पर लदकर
सारे खेत
खलिहान में आ गये हैं,
न जाने कब से
एक पैर हर खड़े थे,
अब विश्राम पा गये हैं
जहाँ से गाय-भैसें
हड़हड़ाकर खदेड़ दी जाती थीं
उन्हीं वर्जित परिधियों में
अब वे निर्द्वंद्व
चर-विचर रही हैं।
सीला बीनने वाले बच्चों से—
शंकित होकर भी,

कविता-पृष्ठ संख्या : 50

छितरे दानों के लिए
धरती पर उतरे पँखेरू
कभी जानवरों की पीठ पर
और कभी, उनके माथे पर
        उड़ उड़ कर बैठ जाते हैं
        जैसे वे निर्जीव वृक्ष हों,
लेकिन जब वे उन्हें
अपना सिर हिलाकर
या देह में झुरझुरी लाकर
        हटाना चाहते हैं,
        तो विवश होकर उनके पंख फैल जाते हैं।
        फिर भी कुछ हठीले
        उड़ते नहीं,
        ज्यों के त्यों रह जाते हैं
        वहीं के वहीं |
चिड़ियाँ बड़ी हो या छोटी
सहज ही समझ लेती हैं
कब कहाँ ख़तरा है, कहाँ नहीं
        खटका हुआ कि फुरर्र.....

काई हो या सिवार
जब तक बहती है धार,
कितना सुखी है कछार !

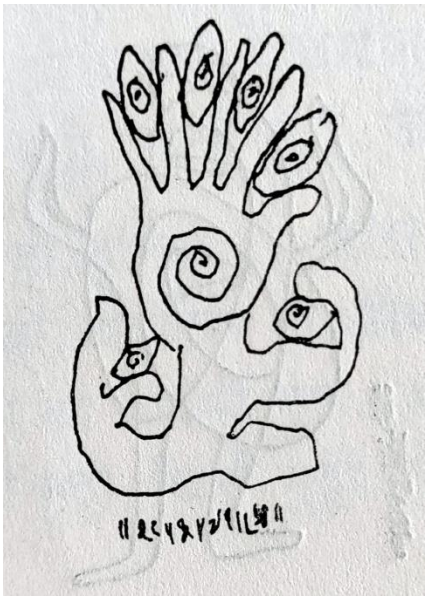

36. टूटा शीशा

हृदय में तुमको लिये चुप ही रहा, मैंने —
न कुछ सोचा न कुछ मुख से कहा मैंने,
स्नेहवश सब कुछ सहा मैंने ।

किन्तु था वह सभी अत्याचार,
तुम समझ बैठे उसे अधिकार—
मेरे मौन रहने से ।

था हमारा शुभ्र शीशे की तरह जो पारदर्शी प्यार,
पड़ गयी पड़ती गयी, उसमें अपार दरार ।
जो समर्पण था सहज वह बन गया संभार ।

अपशकुन है मीत ! शीशे का दरक जाना ।
कभी मानोगे—अगर अब तक नहीं माना ।

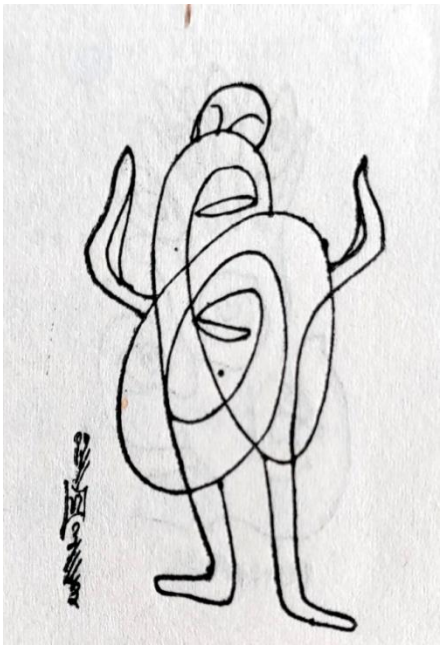

37. ताक़तवर मुट्ठी

महल हो, झोपड़ी हो, कारख़ाने हों, ख़दानें हों,
मदरसे हों कि मेले हों, कनाते-शामियानें हों ।
जहा हैवानियत का, जुल्म का, आलम नज़र आया
कसी मुट्ठी, तनी मुट्ठी, ख़िची मुट्ठी, उठी मुट्ठी ।

लगे जब बाजुओं का ज़ोर, जंजीरें तड़क जायें,
चले जब इन्क़लाबी दौर मुर्दे भी फड़क जायें।
जहाँ आजाद क़ौमों का नया परचम नज़र आया
कसी मुट्ठी, तनी मुट्ठी, ख़िची मुट्ठी, उठी मुट्ठी ।

किसी मासूम चेहरे पर बहे हों बेतरह आँसू
किसी मायूस दिल ने दर्द पर पाया न हो क़ाबू ।

जहाँ मज़लूम आँखों में सिहरता ग़म नजर आया
कसी मुट्ठी, तनी मुट्ठी, ख़िची मुट्ठी, उठी मुट्ठी ।

जहाँ पर फ़र्ज के मज़मून की झूठी पड़ी सतरें,
जहाँ ईमान डोला, शर्म से नीची हुई नज़रें ।
जहाँ इन्सानियत की अब्रुओं में ख़म नज़र आया
कसी मुट्ठी तनी मुट्ठी, खिंची मुट्ठी, उठी मुट्ठी ।

भले मज़बूरियाँ हों, दूरियाँ हों, ज़ोरो पस्ती हो
बड़ी रंगीनियाँ हों, महफ़िलें हों, मौजो मस्ती हो
जहाँ भी आदमी को आदमी कुछ कम नज़र आया
कसी मुट्ठी, तनी मुट्ठी, खिंची मुट्ठी, उठी मुट्ठी ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 53

38. **तुम और मैं**

तुम मेरे लिए अजस्र ज्योति-प्रवाह हो,
औ मैं तुम्हारे लिए खुला परिदृश्य ।
तुम्हीं हो मेरे लिए मधु-मुकुल,
और मैं तुम्हारे लिए मुग्ध भ्रमर ।
ओ दीप्त किरणों वाले आकाशी प्रदीप ।
सुधांशु सदृश्य तुम हो मेरे समीप ।
तुम मेरे लिए स्वर्ण वीणा से अमोल ।
मैं तुम्हारे लिए एक अंगुलि सा अबोल ।
तुम वर्षा हो, मेरे हित रस से भरपूर ।
और मैं तुम्हारे हेतु, नर्तित मयूर ।
तुम अकलुष सुन्दरता, स्रोतस्विनी मुक्त ।

मैं दर्शक, मैं पिपासु, मैं विस्मय संयुक्त ।
नेत्रों से छनता है, अहरह आलोक ।
जिधर देखता हूँ, पाता हूँ बेरोक ।
श्री मुख तुम्हारा स्वर्गिक आभा-लीन ।
अविनश्वर सत्य वही, प्रकट चिर नवीन ।
तुम हो मूल संगीत ।
मैं हूँ उन्मुक्त गीत ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 54

39. **दया नहीं, दर्द**

एक घुँघुरू
नृत्य की गति से छिटक कर
कहीं गहरे पंक में फँस गया ।
मुखरता के लिए
पंकिल मौन का अनुभव विषम,
था नया ।

खुले होठों में
वही थी मधुर स्वर-सामर्थ्य
पर संगीत बिजड़ित, रुद्ध;

अजब अपनापा लगा मुझको
कि सारी विवशता के बीच,
केवल दर्द का अहसास होता रहा;
आयी नहीं मन में दया ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 55

40. **दहकता गुलाब**

यह जो सुर्ख़ गुलाब
मेरी हथेली पर रक्खा है
सामने उगते हुए
सूरज की तरह ही
लाल है
गोल है
और खूबसूरत भी ।

मगर —

अगर यह वाक़ई सूरज होता
तो मेरी हथेली
न जाने कब की
जलकर राख हो चुकी होती ।

राख ही क्यों
अणुओं-परमाणुओं के विस्फोट का
एक कभी न रुकने वाला
सिलसिला बन चुकी होती ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 56

पर वैसा हुआ नहीं
और यह क्या —
कि स्लेटी बादलों की दरार से
उस सुनहले ज्योति-बीज को
पकी मटर के दाने की तरह
अपने होठों के बीच

दाब लिया है !

मैं इस गुलाब की भी
होठों का स्पर्श
करा देना चाहता हूँ ;
इसके रूप को उसी तरह
एकाकार पी जाना चाहता हूँ
जैसे इसने सूरज के रूप को पी लिया है
अपनी पंखड़ी-पंखड़ी के भीतर समोते हुए ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 57

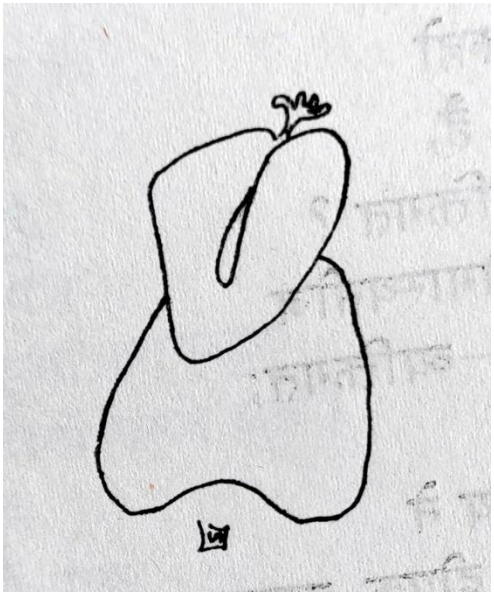

41. **दो दीपक**

'मेरा अभिवादन स्वीकार करो !
आओ आगन्तुक,
परदेशी अतिथि !
यह लो सुखासन

बिराजो पहले
फिर कुछ स्वस्थ हो
आने का अपने
निमित्त कहो
राजकीय है,
अथवा व्यक्तिगत ?
सविनय, मेगास्थनीज
बोल उठा— व्यक्तिगत;
उसी क्षण
आर्य चाणक्य ने
जलता हुआ दीपक बुझाकर
तत्काल
दूसरा दीपक जलाकर ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 58

अब थी जिज्ञासा
आगन्तुक के पक्ष में
'क्यों किया आर्य !
आप ने ऐसा विचित्र कार्य ?
यह दोनों दीपक तो
आप के ही घर में हैं,
एक को बुझाना
जला देना फिर दूसरे को
अर्थ क्या रखता है ?
—मुझको बतायें देव'।
बोले मंत्रि प्रवर
संयत स्वर
'पहले दीपक में तो

जलता था राजकीय तेल
राजकार्य हेतु,
दूसरे में मेरा निजी
श्रम-अर्जित स्नेह था ।
मेरे लिए—
व्यक्तिगत व्यक्तिगत है,
राजकीय राजकीय ।
राजकोष सबका है,
कैसा बना लूँ स्वीय ।'
सुनते ही प्रणत हुआ आगन्तुक,
छू लिए चरण दोनों उसने झुक ।
ससंकोच आर्य ने
थाम लिए दोनों हाथ
फिर दोनों कन्धे छुए ।
दोनों दीपक मिलकर
और तेजवान हुए ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 59

42. दोहरी चीख़

मेरे कान में
हलके से चीख़ कर
अंतिम बिंदु पर ।
तुमने नहीं किया अंगीकार
मेरा या कि अपना प्यार,
मन में सहेजा नहीं
फेंक दिया ठीकरे-सा

अपने घर के बाहर
मेरा आहत टूटा अहंकार ।

अपने किए का
करने को प्रायश्चित
विवश हूँ; लगता है—
जैसे सारा जीवन
आग की प्रज्ज्वलित नदी में —
बहते हुए बीत गया, शेष है अब भी किन्तु
जलती कनपटी के पास

लावे की धार
इतनी असह्य, इतनी दुर्निवार !

फूट कर सहसा
पूरी तरह बिना बहे
सूख ही तो गया
एक सोता
इन अंगारा आँखों में
दे दी तुम्हारे क्षीण हाथों में बागडोर
नहीं किया अपने पर अनुशासन
ठेस तो लगनी ही थी मुझको— लगी
किन्तु भूलेगा नहीं
यह अनुभव
रक्त के भीतर धधकती दावाग्नि का ।

झुलस कर
त्वचा के साथ ही रोम-रोम
करता है पश्चाताप
नहीं, नहीं, नहीं

अब कभी नहीं
कभी भी नहीं अब
वह सब

जो शायद तुम्हें भी प्रिय लगता था ।
क्या मैंने तुम्हारी चीख़ का उत्तर
निःशब्द
दूने वेग से चीख़ कर नहीं दिया ?

कविता-पृष्ठ संख्या : 61

43. **नखत की परछाँई**

अँकुरित सी क्यारियों में धान की,
राशि, वर्षा के बिखरते दान की,
हुई संचित
उसी संचित राशि में सीमंत सी
झि ल मि ला ई
क्षीण परछाँई

फटे टूटे बादलों के बीच से
झाँकते नन्हैं नखत की,
नखत की वह क्षीण परछाँई
छू गई हर एक रग जी की ।
युगों-युगों से
हृदय की सुकुमार पर्तों में बसी थी जो
वह रजत-सी रात पूनों की ।
लग उठी फीकी ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 62

44. **नमन**

नमन मेरा
हिम-जलद-अभिषिक्त शृंगों को |

नमन मेरा
शान्त संख्यातीत रंगों को ।

इन्द्र धनु के गुच्छ
जिन पर तैरते रहते,

नमन मेरा
अलकनंदा की तरंगों को ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 63

45. **नया अर्थ**

नया अर्थ
खोज-खोज हारा
अन्धे मन के ढूहों में
मुरझाये स्वप्न के समूहों में,
गया व्यर्थ —
सारा श्रम ।

लेकिन जब उलटा क्रम
देखा तलवासी आत्मा के उजियारे में—
कौंध उठा घर-बाहर,
तीखे कटु अनुभव के बाणों से
बिंध-बिध कर
प्राणों से
—ज्यों निर्झर।
अपना पथ स्वयं खोज लेने में,
जीवन को नयी शक्ति देने में,
पटु, समर्थ ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 64

46. **नया मंसूर**

दुनिया के लोगों ने
अचानक देखा बेलौस कहर ढाने वाले, फ़लक के दायें-बायें
अचानक लम्बी लम्बी दो भुजाएँ, उग आयी हैं
और उसने
काल-कोठरी में डूबे हुए सूरज को
अपने पंजों में कसते-कसते
सहसा बाँसों ऊपर उछाल दिया है—
गर्व से यह कहते हुए कि जाओ,
हमने तुम्हें आजाद कर दिया ।

अन्तरिक्ष में पहुँचकर
तपते हुए सूरज ने कहा—
'आज़ाद' तो मैं पहले से ही था

तुमने सिर्फ मुझे नाजायज़ कैद दी थी,
ग़लत इरादे के साथ
मुझको रिहा कर तुमने हर सितारे के आगे
अपनी ग़लती तस्लीम की है ।
जाओ शर्म करो अपने किये पर
अब मुझे तुमसे कोई वास्ता
—कोई सरोकार नहीं ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 65

और वह लगातार
अंगारों की आवाज़ में बोले जा रहा था
पूरा युग निस्तब्ध सुन रहा था
वह ऐसा मंसूर निकला
अदब के तर्क पर भी
जिसे फाँसी नहीं दी जा सकी ।
सबके सामने सवाल था—
ज्यादा कौन ऊँचा है,
उसकी आवाज़
या उसके साथियों की लाशों का ढेर !
उसके हक़ में इसका फ़ैसला हो चुका है,
हत्यारों के लिए इसका निर्णय
आगे आने वाली पीढ़ियाँ करेंगी ।
समय जानता है
इतिहास कभी झूठी गवाही नहीं देता

दी गयी मंसूर को फांसी अदब के तर्क पर ।
था अनल हक्र हक्र मगर इक तर्ज़ गुस्ताख़ाना था ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 66

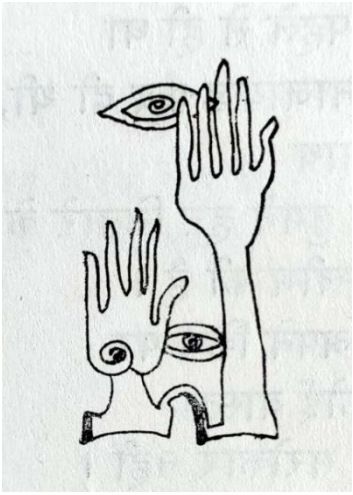

47. नए राष्ट्र का उदय

स्वयं-प्रभा
विराट सृष्टि से जैसे—
स्वयं बह जाती है,
दिव्य आलोक की नयी धारा,

आकाशगंगा में,
अकस्मात् जैसे—
झलक आता है
ज्योति-कमल सा, नया तारा ।

एक पुरातन पूजा-गृह को,
गहरे अँधेरे से
उबारने के लिए
जैसे जल जाता है—
दीप-पंक्ति रचता,
घी का दिया !

राष्ट्रों की पंक्ति में
उसी तरह उग आया है
नया राष्ट्र नयी विभा !
संघर्ष की भावना ज़िन्दाबाद !
क्रान्ति की सफलता, ज़िन्दाबाद !
विश्व की एकता, ज़िन्दाबाद !
मनुष्य की पूर्णता ज़िन्दाबाद !

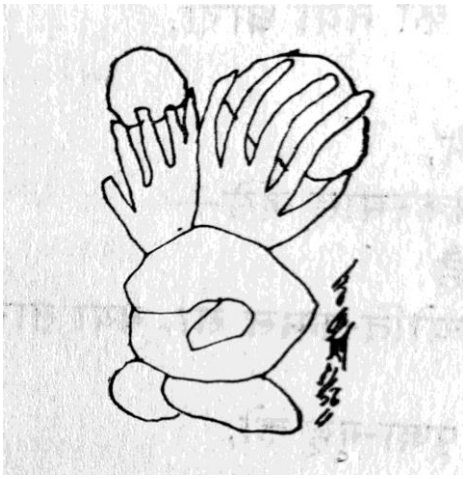

48. नैनीताल की दोपहर

शिखरों से उतर रहे बादल जैसे रुई ;
उर्ध्वमुखी गुच्छों की सुइयों से गेरुई—
चीड़ की क़तारों से कसी-बँधी राह पर,
चितकबरी धूप बिछी चीतल की खाल-सी ।

रुपहली मछलियों सी झोंकों की धार में,
तैर रही बाँसों की पत्तियाँ बयार में,

मन की गहराई के भीतर तक झाँकती,
कूलों पर दीठ झुकी मजनूँ की डाल-सी ।

शुभ्र जलद-वलियत-तरु हरित देवदारु के,
पल्लव-कर आशिष सी देते रहते झुके,
पर्वत के गर्वोन्नत चट्टानी शीश पर,
निर्झरिणी उलझ रही रेशम के जाल-सी ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 69

सिंदूरी नावों पर फहर रहे दूधिया—
पालों की नोकों ने जल का मन छू दिया,
हरी चटक लहरों पर थर-थर-थर काँपती
सूरज की परछाँई सोने की थाल-सी ।

काफल का स्वाद अभी होठों पर सो रहा ।
जी यों ही बिखर-बिखर जाने को हो रहा ।
उस मरकत घाटी के आँचल की ओट में
बादल सा अटक रहा मेरा मन आलसी ।

झिल्ली की झनकारें, बेले के बोल सी,
प्राणों में डोल रही हिलते हिंदोल सी,
अनचाहे दर्द उठा, पलकों पर छा गया,
सुधियों से आँख भरी बरसाती ताल-सी ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 70

49. **प्रकृति रमणीक है**

'प्रकृति रमणीक है'
जिसने इतना ही कहा है—
उसने संकुल सौन्दर्य के घनीभूत भार को
आत्मा के कन्धों पर
पूरा नहीं सहा।

भीतर तक
क्षण-भर भी छुआ यदि होता
सौन्दर्य की शिलाओं ने
जल जाता शब्द-शब्द
रहता बस अर्थाकुल मौन शेष
ऐसा मौन— जिसकी शिराओं में
सारा आवेग-सिन्धु
पारे-सा
इधर उधर फिरता बहा-बहा ।

प्रकृति ममतालु है,
दूध-भरी वत्सलना से भीगी—
छाया का आँचल पसारती।
—माता है !
कविता-पृष्ठ संख्या : 71
स्निग्ध रश्मि-राखी के बन्धन से बाँधती,
निर्मल सहोदरा है !

बाँहों की बल्लरि से तन-तरु को
रोम-रोम कसती-सी
औरों की आँखों से बचा-बचा

दे जाती चुम्बन के अनगूँथे फूलों की पंक्तियाँ

— प्रकृति प्रणयिनी है !

बूँद-बूँद रिसते इस जीवन को

बाँधे मृत्यु-अंजलि में

कविता-पृष्ठ संख्या : 72

50. **प्रतिपक्ष**

तुम सोचो और सोचो

मैं शान्त रहूँगा ।

तुम पंजों से नोचो

मैं शान्त रहूँगा ।

तुम बरछी से कोंचो

मैं शान्त रहूँगा ।

लेकिन यदि कभी

तुम्हीं शान्त हो जाओगे,

सब कुछ खो जायेगा ।

मेरा शान्त रहना

निरर्थक हो जायेगा |

कविता-पृष्ठ संख्या : 73

51. **प्रश्नांकित बुद्ध**

अनुरक्ति और विरक्ति में, वहाँ—

सिर्फ़ एक क़दम अन्तर होता है,

जहाँ परिस्थितियों के मोड़ पर

पहुँच कर अकस्मात्
अनायास राह बदल जाती हैं

बुद्ध के मन को
किस मोह-भंग ने
कर दिया होगा
अचल जड़ीभूत,

जीवन के कितने गहन अनुभव ने
खोल दिये होंगे
दिव्य ज्ञान-चक्षु,
अन्तर की कौन सी
मर्मान्तिक वेदना
ले आयी होगी उन्हें खींचकर
ममतामय संवेदन-कक्ष से—
निर्मम निर्वेद तक,

आज सही-सही सोच पाना असंभव है ।
धुँधले अन्तराल को मिटाना असंभव है ।
फिर भी यत्न करती है
कवि की लघु लेखनी ।

कैसा अनुराग था यशोधरा का
उनके विराग को
जिसने अहरह इतना दीप्त किया,
बन गया बन्धन ही
मुक्ति का एकाधार,

नारी के हाला-हालाहलमय स्वाद को,
अमृतमय अधरों के स्पर्श
और स्नेहमयी पलकों की छाया को,
आग-पानी से पूरित
देह की धधकती हुई आँच को
वासना के पंक सने, स्वार्थ-सिक्त,
कुत्सा-ग्रस्त रूप को

पूरी तरह पहचाना होता
यदि नहीं तो
करते संकोच क्यों
नारियों को संघ में प्रवेश-मुक्ति देने में,
सहज ही मान लेते आग्रह आनन्द का ।

अन्ततः उनकी समशील महाकरुणा ही जयी हुई ।
सारी आसक्तियाँ नकारने के बाद भी,
जीवन-प्रवाह के निषेध ही नहीं थे बुद्ध ।
वे थे एक निष्ठावान् अन्वेषक
ऐसे शान्त, सहज, मध्यमार्ग के ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 75

योग और भोग की
अतियों के बीच जो
गतिशील जीवन को
ले चले प्रगति की ओर
उसे सार्थकता दे,
निश्चित स्वाभाविक आयाम में ।

बुद्ध तो जैसे परिपूर्णता के
जीवित प्रतिरूप थे ।

पूर्णिमा को जन्म और पूर्णिमा को दिव्य ज्ञान
पाया पूर्णिमा को ही महापरिनिर्वाण ।
वही तिथि वही वैशाख मास,
छंदित पूरा जीवन अनायास ।

उनके मनोरथ को
गति देने वाला प्रिय सारथी भी छंदक था
लगता है जैसे वह छंदक ही
गौतम के छंद-बद्ध जीवन का वाहक था ।

ऊर्ध्वमुखी दीर्घता में अद्वितीय
पुष्पित दो शाल वृक्ष
जन्म को सहेजे थे,
बाँधे थे मृत्यु को भी
सुरभित दो महाशाल ।

रजत-कान्त सीपी के संपुट में
लहराते मुक्ता-आलोक सा
उनका अकलुष जीवन
युगों-युगों तक
प्रेरित करता रहा जन-मन को ।

युग की आँखों को मिला

कितनी शीतलता
जो आज भी प्रवाहित है !
जो आज भी अपरिमिति है !
साँची, भरहुत या अमरावती
सभी कहीं मानवीय-रूप-रहित
केवल प्रतीक-बुद्ध चिन्हांकित
चरण युगल, स्तूप, धर्म-चक्र मात्र,
अथवा अश्वत्थ-वृक्ष या केवल भिक्षा-पात्र ।
वेदिका में घिरी हुई,
तोरणों में समासीन
गरिमा त्रिरत्न की,
मूर्तिमान अन्विति ज्यों
बुद्ध-धर्म-संघ की,
सत्ता-इयत्ता-मय
मुक्ति-कामी मानव-प्रयत्न की
अस्थि-खंड स्तूपों के गर्भ में
युगों तक सुरक्षित रहे हों भले,
पर उनसे मानवीय बुद्ध का
बोध नहीं होता है।

जातकों की
जन्मान्तर-जीवी परिकल्पना ने
बना दिया गौतम को
कहीं गज, कहीं मृग, कहीं नाग,
मर्कट भी बने कहीं,
जनता की शक्ति से
हीनयान बनता गया महायान

साधकों ने महिमा-मंडित करके
देवोपम बुद्ध को
हाड़ मांस का प्राणी

रहने ही नहीं दिया ।
कवियों ने भी क्या कुछ और किया
लेखनी ने तूलिका का साथ दिया,
तूलिका ने छेनी को प्रेरित किया
तीनों की रचनात्मक अन्विति से
कला की त्रिवेणी-सी बहती रही ।
युगों तक पूजा-तंत्र की
गूढ़ कथा कहती रहो ।

बाघ में, अजन्ता में,
अनगिन मुद्राओं में,
लेकर सिगिरिया से
तुंगह्वांग तक की
शिला-रंजित गुफाओं में,
लय पूरित कोमल रेखाओं में,
सधा-बँधा बुद्ध-रूप
अब भी संकेतों से बोलता है
मानव-मन की गरिमा
रूपायित शिल्पित शिलाओं से तोलता है ।
लुम्बिनी से कसिया तक
जीवन विस्तार का
कुछ रहस्य खोलता है ।
झीने सौन्दर्य के परदे के पीछे से

मन का आलोक-वृत्त
बार-बार डोलता है ।

देखकर मथुरा की सौम्य मूर्ति
लगता है जैसे आकाश से
दिव्य प्रभामण्डल के रूप में
चन्द्रमा ही आकर ज्यों
कंधों पर टिक गया,

ध्यान-भंग होने की चिन्ता से
अविकम्पित, आशंकित,
सहसा भारहीन हो ।

गांधार-शैली के वलय-वलित
ललित-मृदु-दुकूली बुद्ध
श्मश्रु-युक्त मुख
फिर भी सुस्मित छवि अधरों की
भूल कहाँ पाता हूँ
क्षण भर भी ।
मर-विजयी की बनी
कालजयी महाकाय मूर्तियाँ,
मानव आकांक्षा के
कल्पित आवेग की
जैंसे हों समुपासित
कालमयी पूर्तियाँ ।

रची गयी इतनी

कि मूर्ति का ही
हो गये सुपरिचित पर्याय बुद्ध ।

कैसी बिडम्बना है
शतियों तक
जिसके सम्मूर्तन का
रहा हो निषेध व्याप्त
उसकी ही ललित-रूप-छायाएँ
कला-कलित पाषाणी कायाएँ
देश-देशान्तर तक
फैलती गयीं अहरह अनवररुद्ध ।

उन सबके भीतर से
अन्तर्निहित मानवीय रूप को

खोजकर निकालना
प्रायः असंभव है ।
फिर भी यत्न करता हूँ
अपने कवि-धर्म को निबाहने का,
मानव-मन का उर्मिल
अतल सिंधु थाहने का ।

मुझे नहीं, लगता,
दर्शन केवल
जरा-व्याधि मुत्यु का
उनके गृह-त्याग का
एक मात्र कारण था,

उसका निमित्त था
राहुल का जन्म भी,
जिसे 'राहु' कहा गया
सहसा उनके द्वारा
सुनते ही समाचार !

बार-बार यही प्रश्न उठता है,
आ़खिर क्यों ?
आ़खिर क्यों ?
आखिऱ क्यों ?

कविता-पृष्ठ संख्या : 80

52. **पन्त जी की स्मृति में**

आत्मा के उन्नायक, गायक युग के निर्झर।
मानव-मन के शिल्पी गढ़ते मूर्ति शब्द-शर ।
स्वर्णिम रँग से रहे अल्पना रचते भूपर ।
धनी कल्पना के अर्थों के साधक कविवर ।

प्रकृति तुम्हारी रही प्रकृतिमय,
सतरंगे आलोक तुहिन कण ।
सुन्दरता के नीड़ बन रहे,
कौसानी के सघन चीड़-बन ।
धरती को आकाश बनाते,
देवदारु के पृथुल कलेवर ।
अल्मोड़े की भूमि उर्वरा,
कलरव से गुंजरित निरन्तर ।

ऊँचे-नीचे जीवन पथ सी,
श्वासों से श्लथ पर्वत-घाटी ।
किसे नहीं प्यारी लगती है,
अपनी धरती, अपनी माटी ।
हिम आलोकित आँखों में अरुणिम आभा भर,
पुष्प-गुच्छ के तरु बुरुँश के करते मर्मर।

कविता-पृष्ठ संख्या : 801

लगता जैसे स्वयं तुम्हारी कविता के स्वर,
दीप्त क्षणों में वाणी बनते कमठ-पीठ पर ।

स्वर्ण-धूलि स्वर्णोदय रचती पूर्व दिशा में,
रजत शिखर,
पिघले चाँदी के जल में बिम्बित ।
स्वप्नों को साकार बनाती माया-छाया,
देह-भाव मन में प्रतिबिम्बित ।

नये नाम से, नये रूप में,
नयी चेतना की प्रतिमा को—
आलोकित कर रहे निरन्तर ।
ग्राम्या तक पहुँचा दी तुमने नगर-भावना
भारत माता ग्रामवासिनी
राहुग्रसित शरदेन्दु हासिनी
कभी दृष्टि से नहीं हो सकी
विस्मृत-ओझल ।

पंक्ति पंक्ति में तुमने शत अरविंद खिलाये ।
कविता को विचार से पूरित किया यहाँ तक,

युग-वाणी बन गयी तुम्हारी जाग्रत वाणी ।
जन-चेतना विभूषित, दूषित जन कल्याणी ।
'चिदंवरा' बन स्वयंवरा वनमाला संचित ।
ज्ञानपीठ को गरिमा देकर, हुई पुरस्कृत ।
नारी का उत्थान तुम्हारा स्वप्न शिखर था ।
मध्यकाल में जिसका गौरव गया बिखर था ।
'लोकायतन' तुम्हारा ही आयतन नहीं था ।
काव्य-भूमि पर भाव प्रतिष्ठित सभी कहीं था ।
पराधीनता के युग में जो वस्तु खो गयी ।
युगों-युगों की संचित निधि फिर सुलभ हो गयी ।
गाँधी-बुद्ध, मार्क्स-लेनिन या फ्रायड-डार्विन ।
बना गये सापेक्षवाद की नयी धारणा आइन्स्टाइन ।
किन्तु विवेकानन्द तुम्हारे प्रेरक साधक ।
स्वाभिमान में नहीं बन सका कोई बाधक ।

मिटे छन्द के बन्ध, प्रास के रजत पाश सब ।
तुमने दी अभिव्यक्ति, काव्य स्वच्छन्द बना तब ।

'बूढ़ा चाँद' कलायम होकर
ध्रुव प्रतीक बन गया सहारा ।
प्राप्त 'नयी कविता' को सबसे
प्रथम हुआ आशीष तुम्हारा ।
देशान्तर संस्कृति की नदियाँ
जब आपूरित तुममें बहतीं ।
कृषि जैसी गरिमा महिमा मिल
गृह की सीमाओं में रहतीं ।

रहे विधुर पर मधुर भाव जीवन में आँके ।
घावों को सी गये, सघन भावों के टाँके ।
जन्म तुम्हारा नयी शती का द्योतक होकर,
इक्कीसवीं शती तक जायेगा सुख बोकर ।
लोकतन्त्र पर आस्था दृढ़तर रही तुम्हारी
लोक-शक्ति की शिखा जली, निर्गत अँधियारी ।
तुम प्रणम्य हो 'परिवर्तन' की गति के धारक
युग-चेता नव-मानव-संस्कृति के विस्तारक ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 83

53. **पत्थरों की भाषा**

आँखों, होठों और कानों के बीच
बार-बार थरथराकर
निरर्थक हो चुके हैं—
शब्द
यहाँ-वहाँ, सब कहीं
उत्तेजित हाथों ने
पत्थर उठा लिए हैं
लगता है सभ्यता का
एक दौर पूरा हो चुका है
और आदमी फिर
पाषाण-युग की
आदिम अवस्था में पहुँच गया है |
अणु-अस्त्र सबको सुलभ वहाँ है,
और लड़ना हर कोई चाहता है।
ढेले-पत्थर हर सड़क

हर पगडंडी पर मिल जाते हैं ।
फिर, अब तो वे राज-मार्गों पर भी,
इफ़रात से पाये जाने लगे हैं ।
सभ्यता का बहुत आग्रह हुआ
तो पत्थर न सही जूते-चप्पल सही
कलमदान और कुर्सियों भी तो
फेंक कर मारी जा सकती हैं
आदमी मर्म सहलाना नहीं,
चोट पहुँचाना चाहता है ।
पर क्यों ?
क्या वह स्वयं कभी घायल नहीं होता,
हमेशा दूसरों को ही घायल करता रहता है ?

माना,
अब कोई नहीं मानता
धर्म युद्ध जैसी चीज़।
अब कोई नहीं रोपता
मनुष्यता का बीज |

कोई नहीं चाहता
जीतते हुए, हथियारों को रख देना ।
कोई नहीं चाहता
हार और हथियार का अन्तर परख लेना ।
आज की लड़ाई
सत्य और नैतिकता से अधिक
साधनों के सुप्रयोग से लड़ी जाती है ।
साधन चाहे जैसे हों

चाहे जहाँ से आयें
हथियारों की होड़ में
निहत्था आदमी कभी जीत सकता है
यह कल्पना ही खो गयी है ।
आत्मबल भी कुछ होता है
इसकी प्रतीति ही सो गयी है ।
पत्थर उठाओ और मारो, लोग यही जानते हैं ।
फिर भी अपने को, आधुनिक और सभ्य मानते हैं ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 85

54. **पर दुख**

अपने आप
दूसरे के दुख से
मन जिसका दूख-दूख उठता हो,
गर्वोन्नत मेरा माथा
उनके पाँवों पर ।
तृष्टि का वह क्षण अमोध था,
प्राणी ने अपने से परे भी
जब किसी अन्य की पीड़ा को पहचाना ।
हिंसा और भय की दो आँखों के बीचोबीच
उग आया एक और नया नेत्र
प्रज्वलित होकर भी द्योतक शिवत्व का ।

पशु ने गड़ाये दाँत उस पर भी
घात लगाकर नुकेले पंजे चलाये—
पर फिसल गये बार-बार,

अन्त में हुई पशुपति की ही विजय ।

कौन है पिता
मुझको ज्ञात नहीं
मैं केवल इतना ही जानता हूँ
मानवता उपजी है करुणा की कोख से ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 86

55. **परम्परा— 1**

ढोऊँगा कहाँ तक
परम्परा
व्यर्थ का बोझ है
दे दूँ इसे
किसी योग्य याचक को
ऐसा सोच
देने के लिए दान
ज्यों ही बढ़ाया
दाँया हाथ
सहसा मुझे याचक पहचाना लगा
रोशनी में देखा,
अरे !
वह तो मेरा ही बायाँ हाथ था ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 87

56. **परम्परा— 2**

छुई मुई की भी क्या परम्परा

बाहरी प्रभाव की

उँगलियों ने

जहाँ छुआ, वहीं मुई ।

परम्परा बरगद की,

शाखा से शाखा का अनुबन्धन मूल हुई ।

तूफानों में भी

जो अडिग रहे,

जिसको जटिलता भी वंदनीय

धरती को जहाँ छुआ

कविता-पृष्ठ संख्या : 88

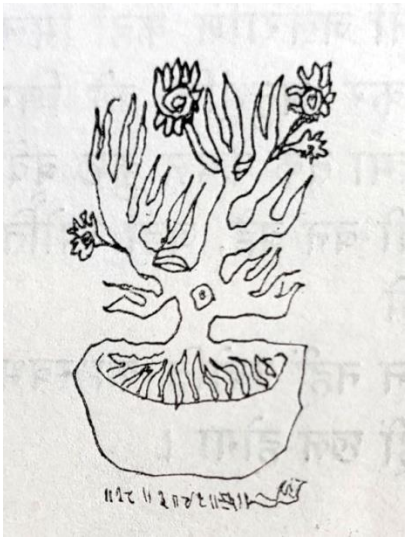

57. **पहेली**

तुम्हें जाने,

अगर, इस बार बतला दो

हमारी मुट्ठियों में है छिपी क्या चीज़।

ऊँ हूँ ! क्यों बतायें हम,
छिपाने में पुरुष होते नहीं हैं कम
किसी से भी ।

न बतलाओ नहीं मालूम है तो,
यों किसी को दोष देने से
मिलेगा क्या ?

मिलेगा क्या ?
यही तो पूछना था
हाँ ! सुनो यदि हम बता दें
तो मिलेगा क्या ?
किसी के प्रश्न करने पर
नया सा प्रश्न कर देना ।
नहीं
अच्छी नहीं यह बात

पहले दो हमारे प्रश्न का उत्तर
हमारी मुट्ठियों में है छिपी क्या चीज़
बतलाओ ।
बताऊँ !
हाँ !
मुझे झुठला रहे यूँ ही
न होगा कुछ
दिखा दो खोलकर मुट्ठी

नहीं तो खुद बता दो ना—
बताऊँ ! सुन सकोगे !
है छिपी इन मुट्ठियों के बीच में
मजबूरियाँ—लाचारियाँ—असमर्थताएँ
एक हो जिसको बताएँ
मुट्ठियाँ यह है बनी फ़ौलाद की
सब को समेटे
युग-युगों से बन्द है अब तक
नहीं तो चटचटा कर टूट जाती उँगलियाँ—
सब दर्द छितराता
तुम्हें मालूम हो जाता
कि मैं सच कह रहा हूँ
कुछ हँसी की बात है इसमें नहीं—
जो है हक़ीक़त है, हँसो मत तुम
अगर अब भी न हो विश्वास
खिंच आओ जरा इन मुट्ठियों के पास
सुन लो दर्द की आवाज़
शायद है इन्हीं में ज़िदगी का राज़
रखना सिर्फ़ अपने तक इसे तुम
किसी दिन काश खुल जाती
कहीं यह मुट्ठियाँ मेरी,
लगा मजबूरियों को आग

ले आता तुम्हें मैं खींच अपनी ज़िन्दगी के पास
श्वासों में उलझते श्वास,
तुम से हो सके तो खोल दो यह मुट्ठियाँ मेरी
बढ़ाओ हाथ-उट्ठो—मत करो देरी

मगर यह क्या—तुम्हारे भर गये लोचन
कमल-कोमल उँगलियाँ मुड़ चलीं बेबस
अँगूठे भिंच गये सहसा
तुम्हारी मुट्ठियाँ भी बाँध दी आखिर
इन्हीं मजबूरियों ने बस
मुझे अब कुछ नहीं कहना
कहूँ भी क्या
कि जब मजबूरियों के बीच ही रहना ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 91

58. पाँगर-गंध बिथोरती

भर-भर अँजुरी
पाँगर-गंध बिथोरती ।

पर्वत की कोमल बयार भी
अपनी गंधमादनी गति से
एक साथ ही
देह-प्रान झकझोरती ।

भँवरों की गुंजार पार कर
बिथुरी सौरभ कणिकाओं से
गुपचुप मधु-रस चोरती।
भर-भर अँजुरी.....

कविता-पृष्ठ संख्या : 92

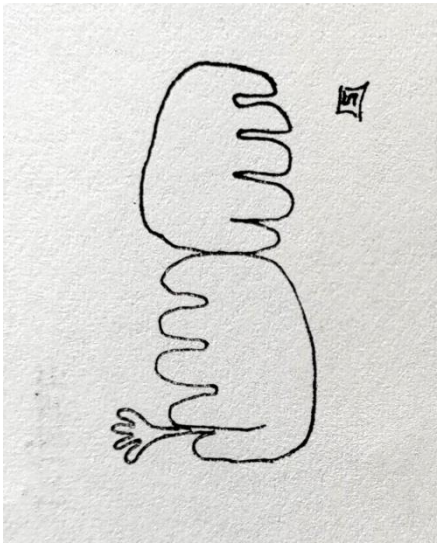

59. पानी गहरा

पानी गहरा है पर थाह नहीं पाता हूँ ।
लहरों में अनचाहे लहर-लहर जाता हूँ ।
कोलाहल धूल भरा तट कब का छोड़ चुका ।
मन की दुर्बलताओं के बन्धन तोड़ चुका ।
पर जाने क्या है
जब गहरे मैं चलने को होता हूँ—
ठहर-ठहर जाता हूँ ।
पानी गहरा है पर थाह नहीं पाता हूँ ।
झिलमिल जल की सतहों बीच सत्य दीख रहा ।
उसमें घुल जाने को
अपने ही को पाने को
साँस साँस तड़प रही रोम रोम चीख़ रहा ।
माना यह तत्वों की, मिट्टी की, जल की है ?
माना की तुलना में पर देह बहुत हलकी है ।
इसको तट ही प्रिय है— चाह नहीं तल की है।

इसके निर्मम हलकेपन से ही बँधा-बँधा—
जल के आवर्तन में छहर-छहर जाता हूँ ।
पानी गहरा है पर थाह नहीं पाता हूँ ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 93

60 . **पक्षी और प्रतिच्छाया**

बँधे हुए पानी की सतह पर
उड़ते पक्षी के साथ-साथ
एक पक्षी और उड़ता है
जो पानी के भीतर होता है ।

ऊपर उड़ता हुआ पक्षी जितना नीचे आता है
नीचे का पक्षी उतना ही ऊपर उठता जाता है ।

प्रतिरूप में भी एक संगति होती है,
प्रतिच्छाया भी एक संगीत रचती है—

जिसका चरम बिन्दु वहाँ होता है
जहाँ पनडुब्बी चिड़िया
पानी के भीतर तैरती मछली को ताक कर
तारे की तरह टूटती हुई
तीर की तरह छूटती हुई
पानी में धँस जाती है
और अकस्मात
उसकी प्रतिच्छाया उसी में विलीन हो जाती है ।
दोहरा अस्तित्व

विभाजित व्यक्तित्व
क्षण भर के लिए समाप्त हो जाता है
और एक तेज छटपटाहट के साथ
फिर पक्षी अपनी प्रतिच्छाया से
अलग हो जाता है ।
वह सतह से जितना ऊपर उठता जाता है
उसकी छाया उतने ही गहरे डूबती जाती है ।
यह खेल न जाने कब से चल रहा है
और न जाने कब तक चलता रहेगा
कोई मछली ऐसी नहीं है
कि उसकी भूख हमेशा के लिए मिटा दे
और पक्षी को अपनी प्रतिच्छाया से कभी
अलग न होना पड़े ।

एक तटस्थ द्रष्टा मैं
उसी निःस्पृहता से दोनों के अलगाव का
सौन्दर्य भी देखता हूँ
और एकात्म भावना का भी
पर क्या सचमुच मैं निःस्पृह रह पाता हूँ
मेरी स्पृहा
न वह पक्षी जानता है न उसकी प्रतिच्छाया
न शिकार बनने वाली मछली;
शायद संचित जल राशि ही मुझे थोड़ा-थोड़ा
पहचानती है।

लगता है मैं बहुत अधिक समय तक
छिटकी हुई बूँद की तरह

उससे अलग नहीं हो पाऊँगा;
अन्ततः किसी न किसी दिन
पक्षी की छटपटाहट से उठी हुई
लहर हो जाऊँगा ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 95

61. **पीले-मील**

खिली सरसों
आँख के उस पार
कितने मील पीले हो गये ?

अंकुरों में फूट उठता हर्ष
डूब कर उन्माद में प्रतिवर्ष
पूछता है प्रश्न
हरित कछार
कितने मील पीले हो गये ?
देखती प्रतिबिम्ब
रुक कर धार
कितने मील पीले हो गये ?

एक रँग में भी
उभर आती
खेत की चौकोर आकृतियाँ
रूप का संगीत
उपजातीं

कविता-पृष्ठ संख्या : 96

चने के घुँघुँरू
रहे खनकार
कितने मील पीले हो गये !

मटर की पायल
रही झनकार
कितने मील पीले हो गये !
पंखियों के स्वर
हवा के संग
आँच देते—
बादलों के अंग
भोर कोहरे का
उमड़ता ज्वार
कितने मील पीले हो गये !
शाम सिन्दूरी
हुई लाचार
कितने मील पीले हो गये !
खिली सरसों
आँख के उस पार
कितने मील पीले हो गये !

कविता-पृष्ठ संख्या : 97

62. **बादल-भँवरे**

खिले देख
शिखरों के इन्दीवर

परिचित कोमलता का भ्रम लेकर
बादल-भँवरे आते
हिम की चट्टानों से
बार-बार टकराकर
मन मारे उड़ जाते
नीली गहराई में
निर्मल आकाश की।

कविता-पृष्ठ संख्या : 98

63. **बादल**

व्योमचारी वारिधर मैं !

यक्ष का सन्देश लेकर
लोचनों में अश्रुकण भर
युगोंयुगों से जा रहा हूँ
यक्षिणी के द्वार पर मैं !

व्योमचारी वारिधर मैं !

शिंजनी से हीन सुरधनु
धूम ज्योति, सलिल, मरुत तनु
खो गया जाने कहाँ फिर
भूल कर अपनी डगर मैं !

व्योमचारी वारिधर मैं !

हृदय में विद्युत् बसाये
राग में क्रन्दन छिपाये
ज्योति-नागिन से डसा-सा,
ले रहा रह-रह लहर मैं !

व्योमचारी वारिधर मैं।

कविता-पृष्ठ संख्या : 99

64. **बदलों का दरिया**

गंगा की बाढ़ ज्यों ही घटी
आकाश में धुमैले बादल
दूने वेग से
धार बाँध कर बह चले |
पुरवाई के झकोरों से अभिमन्त्रित
पिंगल नाग-सा
जैसे एक साथ हिलकोरता
मीलों तक क्षितिज में समाया पानी
वैसे ही—आसमान के इस सिरे से
उस सिरे को मिलता हुआ, महाव्याल-सा
अजस्र लहराता है—मेघालोक ।
लगता है मानो सारा जल
समुद्र तक पहुँचने से पहले ही
फिर बादल बन गया हो ।

जिस पर भवानी खेल रही हों
उस औरत के सिर की तरह

झटके दे-दे कर

कभी इधर, कभी उधर

कविता-पृष्ठ संख्या : 100

झूमते हैं पेड़

बाल बिखराये हुए ।

बदलों की संधि से

झाँकती हुई रंगीन रोशनी

मशाल सी जलती बुझती रहती है ।

हवा और बादल

बादल और हवा

ऐसे मौसम में—

कौन किसे किससे अलग करे !

और ऐसा है भी क्या

जिससे मन भरे ?

कविता-पृष्ठ संख्या : 101

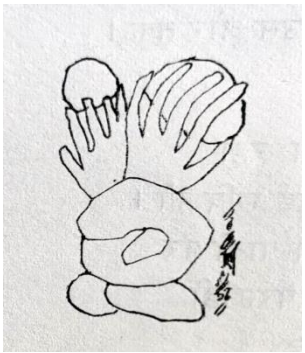

65. **बिजली**

स्वर्ण-रंजित दामिनी मैं !

किन्तु प्रिय के सजल श्यामल

पंथ की अनुगामिनी मैं !

लाल, मेंहदी से रचे कर
युगल पग-पूर्ति महावर
इन्द्रधनुषी मौर-भूषित
जलद की सहगामिनी मैं !
स्वर्ण रंजित दामिनी मैं !

नूपुर में बूँद के स्वर
किंकिणी से ध्वनित अबंर
थिरकती फिरती क्षितिज के
छोर तक अविरामिनी मैं !
स्वर्ण रंजित दामिनी मैं !
सुरमई बादल-कलश भर
ढालती प्यासी धरणि पर
गगनचारी, सलिल-बाला,
प्रिय मिलन क्षण-कामिनी मैं !
स्वर्ण रंजित दामिनी मैं !

कविता-पृष्ठ संख्या : 102

66. **बिन्दु से रेखा तक**

उस दिन
तुम्हारे उतरे हुए चेहरे पर
कुछ अनुचित करते हुए
पकड़ लिए जाने का भाव था ।

दूसरे दिन
मेरे ही सामने
सजधज कर आने में
सत्य को मुझसे छिपाने का भाव था ।

और यदि सच कहूँ
अपने को, अपने रहस्य को
मेरे व्यक्तित्व से बचाने का भाव था ।
आँखों की शंकित
अतिरिक्त चंचलता में

सरिहन मुझे धोखे में लाने—
बरग़लाने का भाव था ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 103

पर मैंने
विष के घूँट-सा
उसे भी पी लिया ।
यन्त्रणा का चरम बिन्दु
होठों से कण्ठ तक
नीलिमा की रेखा बना
— जी लिया ।
कविता-पृष्ठ संख्या : 104

67. **भटकनों में अर्थ**

भटकनों में अर्थ होता है ।
टूटना कब व्यर्थ होता है ।
ज़िन्दगी कच्चे घड़े सी है ।
आँच देकर हर नया अनुभव पकाता है;
सतह से सम्पर्क रखकर भी,
व्यक्ति-मन गहराइयों में डूब जाता है ।
शक्ति की खोई हुई पहचान जगती है,
आदमी जब बेतरह असमर्थ होता है ।
भटकनों में अर्थ होता है ।
टूटना कब व्यर्थ होता है ।

दूब की हर एक पत्ती पर
ओस-मोती जब अँधेरा छोड़ जाता है,
राज-पथ की ओर क्यों सूरज
गाँव की पगडंडियों को मोड़ जाता है ।
एक टूटे भटकते कवि की शिराओं में
'पार्वती-परमेश्वरौ' वागर्थ होना है ।

भटकनों में अर्थ होता है।
टूटना कब व्यर्थ होता है।

कविता-पृष्ठ संख्या : 105

68. **भूल क्यों बैठे बटोही**

छंद में आबद्ध कविता-पंक्ति सी
भोज तरुओं पर कसी
रस गर्विता बेसुध लताएँ

सरसराते पवन के आवेग पर
किसी जालीदार श्वेत दुकूल-सी उड़ती हुई
निर्झरिणियों से भरी वे घाटियाँ,
और उनमें झाँकती हिम-शृंखलाएँ
भूल क्यों बैठे बटोही !

कविता-पृष्ठ संख्या : 106

69. **मंडेला की मुक्ति पर**

कसी हुई असंख्य मुट्ठियाँ
विजय-ध्वज बनकर
हवा में लहराने लगीं।
खंडित होकर भी आकाश
आन्दोलित उत्साह में, अखंड बना रहा ।
जिस ठंडी आग को
सत्ताइस दीवारों वाली जेल
अपने भीतर सहेजे रही,

सहसा ऐसा क्या हुआ
कि उसके भीतर

भट्ठी दहकने लगी !
विद्रोह कर उठीं सलाखें,
पिछलने लगा उनका अस्तित्व ।

उमड़ आया अपार जन-ज्वार

कितने लोग देखते-देखते—
अपनी मिट्टी में मिलकर वे पहचान हो गये ।
मंडेला की जीवनी-शक्ति
बहुतों के लिए मृत्यु-लेख बन गयी ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 107

गाली की तरह असहनीय
रंगभेदी नीति
गोली से नहीं डरा सकी उसे ।
उसकी हथेलियों के पीछे की नसें
नक्शे पर अफ्रीकी नदियों जैसी उभर आयीं ।

आत्मविश्वास
वर्षों की कोई सीमा नहीं जाता ।
संघर्ष की कोई सीमा नहीं होती
सभ्यता का कोढ़—गोरापन,
इतना घिनौना कभी नहीं हुआ !
जब तक अत्याचार है
तब तक रहेगा सक्रिय विरोध ।
जब तक अन्याय है
तब तक उमड़ता रहेगा विद्रोह ।
जब तक काले कारागार रहेंगे
चलता रहेगा मुक्ति-संघर्ष ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 108

70 . **मल्लाह के लड़के**

तन कसौटी सा काला |

गले में डाले शंख-माला ।
हँसते तो
दुबारा झलक जाते
नन्हें शंख
छोटे-छोटे दाँत
वैसा ही करते उजाला ।

अभी-अभी एक ने
मुँह में पानी भर पिच्च से
दाँतों की संधि से निकाला ।

फिर, साथी को मुक्का मार
गहरे में पैठ गया
पानी में उसके
उभरते हुए सिर को पहचानते ही
दूसरा चौंक कर बोला
देखता हूँ—
कहाँ जाता है स्साला !

कविता-पृष्ठ संख्या : 109

71. **माँ के लिए एक अंश**

माँ ने कभी कहा था—
उनका जन्म
जिस दिन हुआ था,
संक्रान्ति थी ।

आज उनके जाने के बाद
पहली बार वही संक्रान्ति आयी है
शायद उनको खोजने ।
मैं कैसे कहूँ
कि मैं उन्हें बचा नहीं सका
उनकी छटपटाती हुई जिजीविषा
उनके भीतर अपना अर्थ खो चुकी थी
मेरे देखते देखते
वही अर्थहीनता मुझे लीले जा रही है—
मैं किसी को क्या उत्तर दूँ।
रामनामी चादर
गंगाजल बनकर
लहराने लगी है—
मेरे भीतर ।
चादर पर पड़े पान-फूल
हरकत करने लगे हैं ।
मैं उनकी सजीवना को ।
फिर से पकड़ लेना चाहता हूँ—
लहरों के भीतर समाकर ।

यही होगा मेरा स्नान, मेरा माघ,
मेरी संक्रान्ति !

किसी विडम्बना से आया है
इस बार नया वर्ष !

हम हर साल

सबको बधाई देते हैं
पर कभी देख नहीं पाते
कि हमारी ही उम्र का एक पड़ाव
चुपचाप किनारे की रेत बनकर
धार में खिसक जाता है ।

उन्हें अकसर याद आ जाता था

हम देखत जग जात है,
जग देखत हम जाहिं।

और ऐसी न जाने कितनी पंक्तियाँ
मैंने माँ से ही सीखी थीं
न जाने उन्हें कितना याद रहता था ।

चिता जलाकर लौटे हुए
अभी दसवाँ दिन ही तो हुआ है

कविता-पृष्ठ संख्या : 111

पूरे दृश्य के भीतर से
उनकी यह पंक्तियाँ गूँजती रहीं

हाड़ जरैं ज्यों लाकड़ी
केस जरै ज्यों घास ।

सब तन जरता देखि कै .....

और मुझसे सचमुच ही नहीं देखा गया

वह दृश्य, उस दिन —
कबीर की तरह निस्पृह होकर ।
माँ, हमेशा अपने लड़के को भला
और दूसरों को ऐसा-वैसा समझती थीं
चाहे वह उसके दोस्त ही क्यों न हों ।
भारती और गिरधर तो
उनकी नज़र में
सबसे ज्यादा छँटे हुए थे ।
न जाने उनके लड़के को बहका कर
कहाँ ले जाते थे रोज़-रोज़ ।

पर लम्बे इन्तजार के बाद
जब वे उसे साथ ले कर लौट आते थे
तो मन ही मन कृतज्ञ भी होती थीं
खुद बनाकर चाय पिलाती थीं
और जतन से सहेजा
'परशाद' भी देती थीं ।

अब मैं उन्हें कैसे बताऊँ
कि साही और सर्वेश्वर की तरह
गिरधर भी नहीं रहा ।
वे होतीं तो शायद कहतीं
कैसे हैं तुम्हारे दोस्त

जो बीच में ही साथ छोड़ देते हैं ।
बिना कहे, बिना बताये ।
आज वे स्वयं चली गयी है

मेरे गये-गुज़रे दोस्तों के पास
शायद उनसे मेरी शिकायत करने !
उस दिन केशव आये थे
काफी देर साथ बैठे रहे
अपनी तीन माओं की याद करते ।
सबसे पहले भारती की माँ गयीं
फिर मेरी, फिर तुम्हारी,
अब 'परिमल' मातृ-हीन हो गया है ।
वैसी चिन्ता, वैसा स्नेह, वैसा वात्सल्य
फिर कहाँ !
मैं बन्द आँखों से भी
उन्हें साफ़-साफ देख रहा हूँ
उनकी खनकदार आवाज़
बराबर सुन रहा हूँ—
वे तन्मय होकर गा रही हैं—

कदम की छाँह हो,
जमुना का तट हो ।
गिरे गर्दन ढुलक कर पीत-पट पर,
खुली रह जायँ ये आँखें मुकुट पर ।
अगर इस तौर हो अंजाम मेरा ।
तुम्हारा नाम हो और काम मेरा ।

उनकी खुली आँखें,
सचमुच मुकुट पर टिकी रही होंगी।

कविता-पृष्ठ संख्या : 113

मैं उन्हें अच्छी तरह जानता हूँ

कि उनकी जुबान पर भले हो
कृष्ण का नाम हो

पर उनके मन में
उनके 'गुरुदेव भगवान' की छवि होगी
सहजो बाई की वाणी
उनके कंठ में बसी थी
'गुरु न तजौं, हरि को तजि डारौ ।'
नाती होते ही
मेरी माँ को पर लग गये ।
तुतली बोली में
एक नाती कहता है—
नानी तो मर गयीं ।
दूसरा कहता है, नहीं,
नानी तो उड़ गयीं ।
हमारे होते ही
उन्हें पंख जो लग गये थे ।

मेरी ओर देख कर
गाय की तरह
निहाल होती हुई
वे कह उठती थीं
मेरा बेटा ! मेरा बच्चा !!
जानता नहीं,
मेरी सात सन्तानें हुई
छः नहीं रहीं,
एक तू ही बचा है

और अब
तेरे छः बच्चे हो गये हैं
देख तो—
मेरी सात के सात पूरे हो गये !
उनका परितोष
उनका सन्तोष
बार-बार
आँसू बनकर छलक उठता था ।
मुझे लगता है,
इतने बच्चों का होना
माँ को कभी बुरा नहीं लगा ।
वह माँ ही क्या—
जिसको बच्चे का जनम न भाये ।
उनका निर्मल वात्सल्य
गंगा की धार की तरह
अजस्र बहता रहा
मेरे भीतर, मेरे बाहर
और मैं गंगा के पार से
अपनी स्मृति से उठती हुई
एक खोयी हुई आवाज़
फिर सुन रहा हूँ—
बाढ़त आवै हो, गंगा रे मैया,
ओदरत आवै कगार हो,
बूड़त आवै हो, मालिन की छोहरिया
पान-फूल उतराहिं रे।
उनके शरीर पर लिपटी
रामनामी चादर के ऊपर

सजाये गये पान-फूल
सचमुच वैसे ही लग रहे थे ।
मेरी माँ उस समय
लोक-गीत बन गयी थी—
जो मेरे भीतर
युगों-युगों से
उमड़ता रहा —
गंगा की धार की तरह ।
और आज भी
गंगा-पार से आती हुई
उसकी धुन
अनायास कानों में गूँज जाती है ।

ऐसा लगता है
माँ की नज़र
मेरे रचना-कर्म
जन्म के साथ
उन्होंने ही दिया मुझे
भाषा का संस्कार
कविता की समझ
और आदमी की पहचान !
हाँ, चितेरा भी मेरे भीतर था
उसे माँ ने अपनी स्मृति में सहेज रक्खा था ।
जो नक्श उनके मन में बन जाते थे,
वे कभी मिटते नहीं थे
मेरी स्मृति तो बीच में डूब गयी थी

पर उनकी याद वैसी ही बनी रही
अन्त तक !
मैं किस नज़र से उन्हें देखूँ
किन शब्दों में उन्हें बाँधू

वे तो मेरे देखते-देखते
निर्बन्ध हो गयीं
अपने-साथ !
असंख्य अभिलाषाओं की मूर्ति थीं
मेरी माँ - निरन्तर संकल्पशील
निरन्तर कार्यशील
कुण्डलिनी की तरह
—असीम सम्भावनाओं भरी,
कितनी सक्रियता, कितनी जीवट
उन्होंने किसी से—
कभी हारना नहीं जाना,

पर अन्ततः कैंसर से हार गयी !
या शायद अब भी उससे लड़ रही होगीं—
अपने लिये भी, औरों के लिए भी ।

भीतर-भीतर
वे मृत्यु को वरदान मानने लगी थीं,
कभी-कभी
अनायास मुस्कुराने भी लगती थीं,
कभी-कभी
अनायास मुस्कुराने भी लगती थीं,

कभी सहजता से—
कभी व्यंग्य से—
हड्डियों के अन्दर
तीखी चुभन
टीसता दर्द
शिराओं में घुलता ज़हर ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 117

छटपटाहट के बाद
और दूनी छटपटाहट
ज़िन्दगी और मौत के बीच
उगती हुई सीढ़ियाँ
गिरता हुआ विश्वास
एक अन्ध-कूप के भीतर
समाता हुआ भय !
न जाने कितने रूपों में माँ
मुझ तक आती हैं
मायके में माँ, ससुराल में माँ,
घर गृरिस्ती में माँ
कुल परिवार में माँ
आश्रम में माँ, यात्राओं में माँ
और अपनी अन्तिम यात्रा तक
माँ मेरी साथ रहीं ।
पर क्या कोई ऐसा भी समय आयेगा
जब माँ मेरे साथ नहीं रहेंगी
मेरी स्मृति में भी !
मेरी कृति में भी !
मृत्यु भी माँ बन जाती है,

जब कोई बच्चा बन कर
उसके पास आता है !
'तू' धूल भरा ही आया
चंचल जीवन-बाल
'मृत्यु-जननी ने अंक लगाया'
महादेवी के साथ, मुझे लगता है
वे अब भी उसी तरह बैठी हैं,
जैसे कई बार मैंने उन्हें देखा था ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 118

यह भी जीवन है,
जहाँ भी जन्म है,
वहाँ माँ होगी ही,
माँ तो साँपों में भी पूज्य है
माँ स्वयं काल नहीं हो सकती ।
जैसे सृष्टि कालातीत है
वैसे माँ भी !
मैं उनकी डूबती हुई आँखों के भीतर
निनिर्मेष झाँकता हूँ ।
साँस की तरह
उनकी पुतलियाँ भी
रुकती जा रही है।
पुतलियों की स्याही
धीरे-धीरे धुँधली पड़ने लगी है ।
गहरे कुओं की सतह पर टिक कर,
मैं उनमें झिलमिलाते जल में,
अपना प्रतिबिम्ब खोजना लगता हूँ।
तभी एक सूखी पत्ती,

चक्कर लगाती हुई
कुओं की असीम गहराई में
उतरने लगती है ।
मुझे लगता है,
उस पत्ती के स्पर्श भय से
जल नीचे उतरने लगता है,
और फिर
धीरे धीरे सूखने लगता है —
पत्ती की तरह,
जो अन्ततः,
मेरी दृष्टि का पर्याय बन जाती है ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 119

मैं प्रतिबिम्ब की जगह
घबरा कर
बिम्ब को खोजने लगता हूँ ।
माँ की डूबती हुई आँखों के साथ
मेरी दृष्टि भी डूब जाती हैं
उन्हीं अंधेरे कुँओं में ।

पर वे
देखते देखते
उस भय से
बेदाग़ निकल आती थीं
मैं आश्चर्य से
उनकी आँखों को देखता था,
निर्निमेष।
उनकी जिजीविषा

पान-फूल की तरह
उस दिन भी
पानी की अथाह
चादर के ऊपर
तैरती दिखायी दे रही थी ।

पर अन्ततः
उनकी आँखें
डूबने लगी थीं
अपने उन्हीं कुओं के अँधेरे में ।

रात के पिछले पहर,
एक सुनसान बियाबान में
मौत ने अपने काले पंख

कविता-पृष्ठ संख्या : 120

फैला दिये थे—
उनकी डूबती आँखों पर ।
देखते-देखते
पलक बन्द होना भी
रुक गया था ।
आँखें, खुली की खुली रह गयीं ।
सहसा मुझे एक गूँज फिर सुनायी दी,

'बिनु प्रान प्यारे भये दरस तिहारे हाय,
देखि लीजौ आँखि यै खुली ही रह जायेंगी'।

कविता-पृष्ठ संख्या : 121

72. **माँ के लिए**

यह जो दीवार घड़ी है
उस पर एक उदास गौरैया
रोज़ शाम से आकर
गुपचुप बैठी रहती है—

घड़ी की तरह भूरी-मटमैली,
दीवार की तरह निरीह-निस्संग ।

माँ हर बार कहती थीं
इस घड़ी को बदल दो,
इसमें मुझे समय
पहचाना नहीं जाता ।

एक तो मेरी बूढ़ी आँखें—
उसे देख नहीं पातीं,
दूसरे उसके धुँधले अंक
लाख सुनहले हों,
पर मुझे दिखायी नहीं देते ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 122

और हर बार, यह सुनकर मैं—
चुप रह जाता हूँ
कैसे कहूँ कि दोष घड़ी का नहीं
उनकी नज़र का है,
समय का है ।

हाँ, उनसे नहीं

मैं मन ही मन

अपने से पूछता हूँ—

किसने समय को

सही सही देख पाया है ।

किसने चलती सुइयों का दंश

लगातार नहीं सहा ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 123

73. **मैत्री-सुख**

एकाएक

धरती से उचक कर

सुअर की पीठ पर

बैठ गया कागा ।

बस,

वह हल्की फुरहरी ले,

तनिक घुरघुराया

फिर निर्द्वंद्व

चरता विचरता रहा

काले नुकीले पंजों से

न डरा

न चौंका

न भागा ।

दोनों के मन की
मिताई के मुख को
जो भी न जाने
वह निश्चय
अभागा !

कविता-पृष्ठ संख्या : 124

74. **मैं वह क्यों नहीं हुआ**

मैं वह क्यों नहीं हुआ ?
जिसने
हिम-शिखरों की रक्षा में
पहला आघात सहा ।
मैं वह क्यों नहीं हुआ ?
जिसके घायल तन से
चौड़ी चट्टानों पर
प्रथम बार
किसी गर्म सोते-सा —
रक्त बहा ।
मैं वह क्यों नहीं हुआ ?

कविता-पृष्ठ संख्या : 125

75 . **यात्री-मन**

छल-छलायी आँख से
जो विवश बाहर छलक आये,
होठ ने बढ़कर वही

आँसू सुखाये ।

सिहरते चिकने कपोलों पर
किसी अपरिभाषित
व्यथा की टोह लेती
उँगलियों के स्पर्श गहराये ।

हृदय के भू-गर्भ में
जो भाव थे
संचित-असंचित
एक सोते की तरह
फूटे बहे,
उमड़े नदी सागर बने
फिर भर गये आकाश में

कविता-पृष्ठ संख्या : 126

घुमड़ कर
बरसे झमाझम
हो गया अस्तित्व जलमय ।

यात्रा पूरी हुई, लय से प्रलय तक,
देहरी से देह की, चलकर हृदय तक ।

एक दृढ़ अनुबंध फिर से लिख गया ।
डूबते मन को किनारा दिख गया ।।

कविता-पृष्ठ संख्या : 127

76 . **ये ज़िन्दगी के रास्ते**

ये ज़िन्दगी के रास्ते
केवल तुम्हारे वास्ते
मैं सोचता था एक दिन !
केवल तुम्हारे स्नेह की अमराइयों में घूमकर
केवल तुम्हारे रूप की परछाइयों में झूमकर
केवल तुम्हारे वक्ष की गहराइयों को चूमकर
सब बीत जायेगी उमर,
मैं सोचता था एक दिन !
केवल तुम्हारे स्निग्ध केशों की निशाओं पर लहर
केवल तुम्हारी दृष्टि से धुलती दिशाओं में ठहर
केवल तुम्हारी गोद में हारा-थका-सा शीश धर
कट जायेगा सारा सफ़र
मैं सोचता था एक दिन !
विश्वास था निश्चय तुम्हारी बाँहुओं से छूटकर
यह देह जायेगी मुरझ, यह प्राण जायेंगे बिखर
विश्वास था तुमसे अलग होना ज़हर हो जायेगा
खोया तुम्हें तो ज़िन्दगी का सत्य भी खो जायेगा

कविता-पृष्ठ संख्या : 128

पर आज यह सब झूठ है,
तब झूठ था अब झूठ है !
तुम दूर हो, वह स्नेह की अमराइयाँ भी दूर हैं,
परछाइयाँ भी दूर हैं, गहराइयाँ भी दूर हैं,
साँसें तुम्हारी दूर हैं, बाहें तुम्हारी दूर हैं,
मंजिल तुम्हारी दूर है, राहें तुम्हारी दूर हैं
तुम तो नहीं पर मौत की तस्वीर मेरे साथ है,
हर चाह को बाँधे हुए तक़दीर मेरे साथ है !

फिर भी अभी मैं जी रहा,
ये ही नहीं मैं सोच आगे और जीवन की रहा !
अब देखता हूँ ज़िन्दगी यह प्यार से ज़्यादा बड़ी,
दो लोचनों की अश्रुमय मनुहार से ज़्यादा बड़ी,
इसमें हज़ारों मील लाखों मील रेगिस्तान है,
फिर भी किसी उम्मीद पर चलता यहाँ इंसान है,
उम्मीद वह जो साथ रहने तक नहीं सीमित यहाँ,
हर व्यक्ति केवल प्यार पाकर ही नहीं जीवित यहाँ !

हरा-कथा सा शीश, पत्थर पर, किसी तरु-छाँह में,
रख कर ज़रा सी देर चलना है मरन की राह में,
यह ज़िन्दगी का सत्य सच मानों कि तुमसे भी बड़ा,
इस तक पहुँचने को मनुज होता रहा गिरगिर खड़ा,
इस सत्य के आगे मुरझना और खिलना एक है,
इस सत्य के आगे बिछुड़ना और मिलना एक है,
इस सत्य के आगे सभी धरती हृदय का पात्र है,
मेरा तुम्हारा स्नेह इस पथ की ईकाई मात्र है !

माना हमारे स्नेह में कोई कमी होगी नहीं,
माना हमारे दीप की कम रोशनी होगी नहीं,
लेकिन किसी भी रोशनी को बाँध लेना पाप है,
अपने हृदय का स्नेह दुनिया को न देना पाप है !

जो धूलि-कण आये हमारे राह में सोना बने,
अपना-पराया अब न हो कोई हमारे सामने,
तुमने दिया सर्वस्व मुझसे भी जरा सा दान लो,
इस सत्य को मैं चाहता हूँ आज तुम भी मान लो !

मानों न मानों तुम सही,
पर सोचता हूँ मैं यही,
ये ज़िन्दगी के रास्ते !
सारी धरा के वास्ते !

कविता-पृष्ठ संख्या : 130

77. **रक्त-तिलक**

शाखा में लटके
शम्बूक के
कटे हुए शीश ने
शब्दों से
गाढ़ा-काला रक्त वमन कर
एकलव्य के
शरच्छिन्न गूँगे अँगूठे से कहा—
'उठो
मेरे माथे पर
अपने ताजे खून का
तिलक करो ।
पैरों से कुचली प्रतिष्ठा के
राज्याभिषेक के लिए
मुझे एक युग से
तुम्हारी तलाश थी
जो मेरी नियति थी
तुम्हारी भी वही हुई
मैंने जब माँगा
जन्म-सिद्ध अधिकार

आत्मा के शिखरों को छूने का
स्वयं खड्ग-पाणि हो
उतर आये हिंसा पर
मर्यादा पुरुषोत्तम
मेधा से मुझको
पराजित नहीं कर पाये
केवल व्यवस्था के तर्क की
पैनायी धार से
काट कर मेरा स्वत्व
वध की क्रूर भाषा से
कर दिया मेरी शंकाओं का समाधान
लेकिन निरुत्तर मैं नहीं हुआ,
भूल गये गुरुवर
तुम्हारी दिव्य निष्ठा को,
पूजा को,
भक्ति को,
दक्षिणा में
दक्षिण भुजा से
तुम्हे माँग लिया ।
हिंसा का दोष भी
अपने सर नहीं लिया;
ऐसी पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ
स्वार्थ कहीं देखा है ?
सुना है,
इससे भी बड़ा कहीं
शिष्यों से शिक्षक का पक्षपात !

तुम भी हुए होते कहीं

कविता-पृष्ठ संख्या : 132

राजवंशी
क्षत्रिय बालक कुलीन
बदला गया होता गुरुवर्य का
तुम्हारे प्रति दृष्टिकोण।

तुम्हारी संतप्त आत्मा में
—आग है
प्रतिक्षण धधकते अपमान को,
इसीलिए चाहता हूँ

ज्वाला में जलते हुए
हाथ का तुम्हारे ही
दाहक संस्पर्श एक
मैं अपने
सदियों से ठंडे पड़े
माथे पर
शिव के तीसरे नेत्र की तरह
वह रक्त-तिलक
प्रज्वलित होते ही
कर देगा भस्मसात्
झूठे अहंकार की
पूरी वासना-देह
निस्संदेह। —(शम्बूक से)

कविता-पृष्ठ संख्या : 133

78. **रोटी और कमल**

रोटी का मारा
यह देश
अभी कमल को
सही पहचानता है
तल के पंक तक फैली
जल की गहराई से
उपजे सौंदर्य को
भूख के आगे झुके बिना
धुर अपना मानता है |

रूखी रोटी पर तह-व-तह
ताज़ा मक्खन लगाकर
कच्ची बुद्धि वाले कुछ लोगों के
हाथ में थमाकर
कृष्ण-कृष्ण कहते हुए
जो उनका कमल
छीन लेना चाहते हैं

कविता-पृष्ठ संख्या : 134

उनकी नियत को
उनकी नियति को
भली भाँति जानता है |

भोले का भक्त है
फक्कड़ है
पक्का पियक्कड़ है

बाँध कर अँगौछा
यहीं गंगा के घाट पर
दोनों जून छानता है,

किंतु मौका पड़ने पर
'हर हर महादेव' कहते हुए
प्रलयंकर त्रिशूल भी तानता है |

रोटी का मारा
यह देश
अभी कमल को
ठीक-ठीक पहचानता है |

कविता-पृष्ठ संख्या : 135

79 . **लेखनी और तूलिका का साथ**

तुम्हारे हाथों में आकर
स्नेह की कोमल वर्तिका
सहसा रंगमयी तूलिका हो गयी ।

दिन के चारों यामों को
भीतरी आलोक से भरते हुए,

वही तूलिका
तुम्हारी कविता-पंक्तियों की
स्वर्णिम अट्टालिकाओं में समाकर
कालिदास की

संचारिणी दीप-शिखा बन गयी ।

कितने ही मुकुट
उनके आगे
सम्मान में झुकते रहे,
कितने ही आँसू
आँखों में समाये रूप को
उजला करते रहे।

कविता-पृष्ठ संख्या : 136

क्योंकि तुम्हीं ने तो लिखा था
सब आँखों से आँसू उजले
सब के सपनों में सत्य पला ।

हर कोई तुम्हें
नितान्त आत्मीय समझता रहा ।
सभी को तुम्हारी करुणा का
असीम वरदान मिला
चाहे वह गिलहरी का बच्चा हो,
या कदम्ब का फूल !

तुम्हारे नीड़ के आस पास
जिन्होंने तुम्हारे घने पंखों की
गुँधाती छाँह पायी
जिन्हें तुम्हारा वात्सल्य
नीर भरी बदली की तरह
सराबोर करता रहा ।

उन्हें तुम
हर मोड़ पर
गोमुखी धारा ही लगीं
भले ही वह प्रयाग हो काशी हो,
या गंगा-सागर ।

शंखों की पंक्ति जैसी
हिमालय में लय होती हुई
तुम्हारी वह शुभ्र-काया
आरोहण की असीम ऊँचाई से
जब भी सरस्वती बन कर बहेगी
हर कवि-कंठ तुम्हारे स्वरों में
हर चितेरा तुम्हारी रेखाओं में

अपना अस्तित्व
अपना व्यक्तित्व
सहज ही खोज लेगा,
जैसे मैंने तुम्हारे दीप चित्रों में
अपनी दीप शृंखला खोज ली ।
भले ही तुम्हारी वसीयत में
किसी कवि का नाम न हो

पर मुझे लगता है
कवि-चितेरा होने के वास्ते
मैं ही तुम्हारा उत्तराधिकारी हूँ,
सदा से रहा हूँ
आगे भी रहूँगा ।

कोई माने या न माने,
पर तुम स्वयं मेरा भाव-सत्य समझोगी,
ऐसा मुझे विश्वास है ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 138

80. **वर्षा और भाषा**

वर्षा की बूँदों से शब्द-शब्द घुलता है !
बूँदो की वर्षा से नया अर्थ खुलता है ।

भावों के बादल घिर आते हैं
घिर घिर कर छाते हैं
बूँदों की भाषा में सब कुछ कह जाते हैं

रिमझिम-रिमझिम अक्षर-अक्षर, रस घुलता है ।
भादों की कारी अँधियारी में

रह रह कर
बिजली-सी उक्ति चमक जाती है ।
वाणी की सोने-सी देह दमक जाती ।

वर्षा की बूँदों में
बूँदों की वर्षा में

शब्द अर्थ मिलते हैं;
जीवन सब तुलता है ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 139

81. **वर्षाकाश**

बरसाती शाम के रंजित आकाश में
दूर तक फैली
एक बादली छाया
अकस्मात खिल कर गुलाबी होने लगी ।
उसके झीनेपन के उस पार से
रह-रह कर झलकता हुआ
सेब की छिली-कटी फाँक-सा
सफ़ेद चाँद
सहसा हल्का आसमानी हो उठा ।

किसे विश्वास होगा
कि कभी चाँद भी हो सकता है
शारदी आकाश के रंग का;
पर आँख का देखा
नकारा नहीं जाता ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 140

जैसे कभी कभी डूबते सूरज की
आड़ी तिरछी किरनों से छू कर
कोने में कहीं कोई बादल
हरा, सुआपंखी हो जाता है
वैसे ही कौन जाने किसका भाव
कब किस रंग का हो जाय !
कौन होगा
वर्षाकाश से अधिक

मानव-मन का सच्चा पर्याय ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 141

82 . **स्वधर्म**

रंग हुए दिगन्त व्यापी
खिंची रेखाएँ धरा पर ।
चित्र-रचना में समाहित
हो रहा आकाश तत्पर ।
रूप की, आकार की
होती नवोदित शृंखलाएँ ।
चित्त की विभुता सहज
करती प्रकट, कितनी कलाएँ ।
सत्य में शिवता निहित हो
और शिवता बने सुन्दर ।
एक दृष्टि उगे सभी में
विकृतियों से सुकृति बनकर ।
सृजनकर्म स्वधर्म होकर
श्वास श्वास समर्थ कर दे ।
बने रचना रागमय
कल्याणि वीणापणि वर दे ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 142

83. **स्पर्श-लेख**

थके माथे पर

नयी उगती किरन,
स्पर्श सुख;

एक उँगली
गिरे जल से खेल कर
कुछ लिख गयी ।

हर लिखावट कहाँ किसने पढ़ी,
और अपनी क़लम से
अनुभूत सब कुछ
कहाँ किसने लिखा ।

क्या हुआ जो
थके माथे पर
किरन का लेख
मैंने अनपढ़ा ही छोड़कर
स्पर्श-सुख ही लिया केवल;

अर्थ का संभार
सचमुच
कम नहीं पाया ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 143

84. **संवेदन-संकट**

गोलियाँ
आवाज़ करती हैं मगर

आदमी ही हो गया बहरा |

कौन रोके
रोज़ का यह रक्त-पात
आदमी की बुद्धि पर
कोई नहीं पहरा |

देखता हूँ
आदमी ही हो रहा
संवेदना से हीन,
और संकट कौन होगा
आज से गहरा !

कविता-पृष्ठ संख्या : 144

85. **सत्य की उपलब्धि**

बुद्धि – मन भी
किसी अन्तर्निहित चेतना शक्ति के
इच्छानुचालित यंत्र है |

इस अनाविल तथ्य का पहले पहल
जब, जहाँ, जिसको हुआ होगा सहज आभास
आज मैं उसकी व्यथा के साथ हूँ |

हृत-हृदय की रिक्तता के बीच से
फैला हुआ वह हाथ हूँ
जिसकी उँगलियाँ

सत्य की उपलब्धि का
सुख लूटने से पूर्व
स्वप्न की अयथार्थता के
जड़ हिमानी स्पर्श से बिंध
ऐंठ जाने को विवश हों |

कविता-पृष्ठ संख्या : 145

86 . **समय का स्वभाव**

देखए देखते
असहनीय घटनाएँ भी
शब्द मात्र होकर रह जाती हैं,

बारूद बनने की जगह
भुरभुरी रेत बनकर
पानी की तह में—
बैठ जाता है
उनका सारा प्रभाव ।

अपने चारो ओर
कृत्रिम अँधेरा रच कर
चीखों को मुट्ठियों में भींचे,
मृत्यु-भय से आँखें भींचे,

हर कोई अपनी सुरक्षा में लगा है
जाने कैसा हो गया है
समय का स्वभाव

संघर्ष नहीं बनते

आदमी के घाव !

कविता-पृष्ठ संख्या : 146

लगता है—

अपशब्दों से त्रस्त इतिहास

अपनी भाषा ही भूल गया है,

क्या यही है परिवेश से—

हमारा बुनियादी लगाव ?

क्यों खोजने लगे हैं राम शिरस्त्राण ?

क्यों बुझे-बुझे से लगते हैं उनके वाण ?

अब क्यों नहीं बनती कोई सीता,

राक्षसों के राज्य पर पलीता ?

कविता-पृष्ठ संख्या : 147

87. **सहेजी हुई बूँद**

बरसात रुकने के बाद भी

हर गीली चीज़ से

टपकती रहती हैं बूँदे ।

चाहे वह पत्ती हो या तना

या किसी और धातु से बना

वर्षा किसे —

बादल नहीं बना देती ।

स्वाति जैसी पारदर्शी छाया

कवि-मन में सहसा

मोती बन जाती है,
मैं ही जानता हूँ
कैसी बनती है
सहेजी हुई बूँद
एक कविता ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 147

88. **सूर्य का औरस**

साँझ के घिरते अँधेरे की चुनौती के जवाब में
कौन आकर रख गया है
उन्नत शिखर के शीश पर
एक टुकड़ा धूप !

सुबह तक किसने प्रतीक्षा की नियति स्वीकार की
एक इस विश्वास का लेकर सहारा
रोशनी मिटती नहीं है
भले ही वह तिरोहित हो जाय
पाकर समय का व्यवधान ।

सामना करना अँधेरे का
उसी की शक्ति में है,
हर सुबह दस्तक वही देती
घरों के द्वार पर ।

रोशनी के स्रोत की पहचान
मानव में निहित है

सूर्य हो, नक्षत्र हो,
तारक खचित आकाश हो

कविता-पृष्ठ संख्या : 149

हर एक ज्योतिष-पिण्ड पर
उसकी ठहरती है नज़र ।

अजब अपनापन उसे आभासता है,
पुत्र पृथ्वी का स्वयं को मान कर भी
उसे लगता है कि उसकी शिराओं में
सूर्य का औरस भरा है ।

ज्योति से सम्बन्ध उसका
उस समय भी रहा होगा
गर्भ की झिल्ली अँधेरा बन
उस घेरे रही जब

कौन सी वह किरन-गायत्री
देह में उसकी समायी
प्राण का संगीतमय आलोकर बन कर !
चेतना का स्पंद पहला, कहाँ से आया,
यदि कहीं वह प्राण के आलोक में शामिल नहीं था !
उसे लगता है कि वह अस्तित्व में उसके यहीं था ।

सत्य अविनश्वर रहा है,
बस उसे नव दृष्टि से फिर देखने की बात होती है ।
सर्जना की सीप में —
हर एक रचनाकार का व्यक्तित्व मोती है ।।

89. सूर्यमुखी आँख और सम्पाती

वही तो है सूर्य
जिस पर आँख टिकती नहीं
वही तो है सूर्य
जिसके बिना सबका —
देखना होता असंभव
वही बनता
रूप-आकर्षण
और वही—
अदम्य जिज्ञासा
सूर्य के भीतर समाये
एक एक रहस्य को
खोलने का साहसी संकल्प !
मन की मुक्ति का हर द्वार
हिलने लगा सहसा
कल्पना में भर गया
भूकम्प जैसा दृश्य

तभी सम्पाती कहीं
भूपर गिरा लुंठित
जले झुलसे पंख
पंजे हुए टेढ़े
खाल तक काली पड़ी
पर आँख उसकी

सूर्यमुखी बनी रही !

चाहता हूँ
मिले मुझको
कहीं कोई आँख
जिसमें झलकती हो
सूर्य-छाया,
किरन-काया ।

दीप्त दृश्यों में समायी
महामाया ।

किन्तु जिसके पंख झुलसे न हों
पंजे न हो टेढ़े
खाल भी सुलगी न हो ।

नया सम्पाती—
नये विज्ञान की ही देन होगा
नया मानव
सूर्यधर्मी सृष्टि के संधान की ही देन होगा ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 152

90. **सैलाब का संकल्प**

बाढ़ आयी हुई है,
नदी का जल
खाली कमरों में पैठ कर

थपेड़ो से
दरवाज़े खोलने-बन्द करने लगा है ।

मेरे भीतर भी
ऐसा ही एक प्रवाह है
जो रह-रह कर काले नाग-सा मैरियाता है,
उसके फन का प्रसार
इस चढ़ी हुई नदी के पाट से
किसी तरह कम नहीं है ।

अन्तरंग कक्षों के द्वार तोड़ कर
वह नाग भी
मन के अन्दर तक पैठ चुका है ।
मैं प्रतिक्षण
उसके वेग का अनुभव कर रहा हूँ ।
कोतल बँधे काले कुप्पे
कविता-पृष्ठ संख्या : 153
जब तेज़ धार से डगमगा कर
आपस में टकराते हैं
तो लगता है जैसे हवा की चोट से
—अँधेरा बज रहा हो ।
पर मेरे कानों में
कल की बातचीत से जो सियाही दौड़ गयी थी
वह अब एकदम शब्दहीन हो चुकी है,
कहीं कोई प्रतिशब्द शेष नहीं है;
बाक़ी बचा है सिर्फ़ एक बर्फ़ीला संकल्प |

—कोई भी धरती
ऐसा नहीं है जो किसी के
पूरे सैलाब को
सह सके, सहेज सके,
आगे,
अपनी तरलता
सिर्फ़ अपने तक ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 154

91. **शृंगों का शृंगार**

हर युद्ध
मनुष्यता के सिर पर
सींग उगा देता है ।
धर्म-युद्ध की धारणा में
'धर्म' ही मारा जाता है
दोनों ओर से ।
खंडित हो जाता है सत्य,
विरोधी आग्रहों के कारण ।
टकराते अहंकार
खींच खींच कर
आदमीयता का दामन फाड़ देते हैं
और धीरे-धीरे
आदमी नंगा हो जाता है
इतना नंगा—
कि उसका जिस्म ही नहीं
पसलियाँ भी दीखने लगती हैं

भेड़ियों की आँख,
टटोलने लगती है उसका कलेजा ।
भूतों की बाँहों में कस कर
चरचराने लगती है उनकी हड्डियाँ ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 155

ठोस अन्धकार में बार-बार
खाँसते हैं प्रेत ।
क्या तुमने नहीं सुना
उनका भारी भयानक स्वर !
घबरा कर

शांति-शांति !
चिल्लाने लगता है आदमी
ऐसी ही चिल्लाहटों से ऊब कर ।
कहा था रघुबीर सहाय ने—
पिछले साल, मृत्यु में डूब कर !

'शांति दो ! शांति दो !!
चाहे वह बहन
कांति की क्यों न हो ।'

तुम हँसते क्यों नहीं, इस विडम्बना पर
व्यंग्य में 'क्रांति' कांति बन ही जाती है ।
हँसों, हँसों, जल्दी हँसो !
अपने लिए नहीं
किसी दूसरे के लिए हँसों,
देखते नहीं

किसी दूसरे के लिए
मर रहे हैं बेचारे सैनिक !
नौकर सैनिक !!
अहंकार की टकराहट
सर्वनाश की आहट बन जाती है ।
दोनों ओर से हो रहे हैं वार
निकल रहे हैं फ़ौजी गोदामों से
एक से एक नयाब हथियार-औज़ार ।
कर देते हैं
आदमी की छाती को छलनी
गोलियों चीथड़ो के साथ
ग़र्क हो जाती है लहू की धार में ।
रक्त का नदी
हर युद्ध में बिना स्रोत, बहने लगती है ।
और उसी के किनारे नये श्मशान बन जाते है ।
द्वीप की तरह, जगह-जगह ।
अनस्तित्व का ही अस्तित्व
रह जाता है अन्त में ।

वसन्त सहाय न बनाया था जो चित्र
घूरता है हँसो-हँसो के अक्षरों को ।
उमड़ता है रघुवीर सहाय का वात्सल्य
अपने बेटे की कृति पर ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 157

92. **शालिग्राम**

शालिग्राम की
एक बटिया भी—

मेरे सारे पुरातन ज्ञान को
चुनौती दे जाती है,
क्योंकि मैं नहीं बता सकता
कि वह कितनी पुरानी है !

जिन कणों से वह बनी है
वे क्यों और किस स्थिति में
संघटित हुए !
मैं नहीं जानता !
किस धारा में बहते-बहते
उसे इतना गोलाकार मिला होगा !

कहाँ गये वे कण, जो उसके
अभिन्न अंग थे !

किस विशाल शिला-खंड की
लघु टूटन रही होगी वह ?

कौन उठाकर लाया होगा
गहरी नदी के बीच से उसे !

किस नियति ने दिया होगा वह श्यामल रूप
जिसे कृष्ण कहना
सचमुच सार्थक लगा होगा,

—किसी गोपी को !

मीरा की आस्था
कितनी बड़ी थी
जिसने अपने समय की
हर चुनौती का जवाब
यह कहकर दिया होगा—

'म्हारे सिर पर सालिगराम,
राणा जी म्हारो काईं करसी !'

कविता-पृष्ठ संख्या : 159

93. **हँसी के पाश**

हा हा हा हा हा हा ! ! ! ! ! !
खोखली हँसी हम सब हँसते हैं ।
गूँजते हुए लंबे पाशों से हँसी के,
इसको, उसको, ख़ुद को, कसते हैं ।
जानते हैं हँसी यह
खोखली है झूठ है, दिखावटी है,
फिर भी हम इसी को कसौटी पर
कंचन से निर्मल सम्बन्धों को कसते हैं ।

कहते हैं एक ज़हर ऐसा भी होता है
खाने पर भी जिसके —
डूबता नहीं है मन,

ऐंठता नहीं है तन
सिर्फ़ हँसी आती है
सिर्फ़ हँसी आती है
हा हा हा ! ! !
हा हा हा ! ! !

कविता-पृष्ठ संख्या : 160

94. **अपूर्ण**

स्नेह के बिना आदर
आदर के बिना स्नेह,
दोनों अधूरे हैं ।
दोनों के बिना, बन्धु !
हम भी कहाँ पूरे हैं !

कविता-पृष्ठ संख्या : 161

95. **काल प्रवाह**

रिक्तता में मन नहीं लगता
तिक्तता में दाह होता है,
सिक्तता कैसे मिले मरु को
दूर काल-प्रवाह रोता है ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 162

96. **गति और मुक्ति**

बंधन है अगति
उसी से जीवन बँधता है,
गति से क्या मुक्ति बन्धु !
गति ही तो मुक्ति है ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 163

97. **बन्धन**

हिम-शिखर, निर्झर, नदी-पथ, चीड़-वन
मुक्त मन के लिए बन्धन हो गये ।
दृश्य से छन कर समाये आँख में,
आँख से मन में बसे, मन हो गये ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 164

98. **बहुवचन**

माना —
एक वर्जित सन्दर्भ में
मेरे मुँह से सहसा
बहुवचन निकल गया ।

पर इतने से ही
तुनक कर
भौंहें चढ़ा लेना,
दूर जाकर लेट रहना,
लेटे-लेटे खिलखिला कर
हँस पड़ना

भला यह भी कोई बात हुई !

कविता-पृष्ठ संख्या : 165

99. युग्म-पथ के तीन दोहे

अमृत मिले या विष मिले, मन विशाल या क्षुद्र ।
रत्न खोजने नर चला, नारी महा-समुद्र ।।

नारी नर को खोजती, नर असीम आकाश ।
जितना भी अनुभव मिले, मिटती नहीं तलाश ।।

एक दूसरे के बिना, है अपूर्ण-अज्ञात ।
बनी अनन्त रहस्य है, नर-नारी की बात ।।

कविता-पृष्ठ संख्या : 166

100. व्यक्ति और समाज

समाज की
व्यक्ति—निरपेक्ष कल्पना
कोरी जल्पना ।
व्यक्तित्व-हीन प्राणी,
अर्थ-रहित वाणी ।

व्यक्ति के लिए
व्यक्ति की चाह।
एक सुगन्धित राह ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 167

101. **विश्वास का हाथ**

विश्वास के हाथ की
पाँचों उँगलियाँ पंचगव्य है
वंचना की दोहरी दृष्टि
जिह्वा है तक्षक की ।

स्नेह में—
जो भी परीक्षित हो
अपने को पावन करे,
विष से —
नहीं तो, मरे ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 168

102 . **शब्द-हीनता**

फिर वही—
कुछ भी कहूँगा मैं
तुम उत्तर दोगी नहीं,
अन्ततः
तुम्हारी निर्निमेष शब्दहीनता
मुझसे सहन होगी नहीं ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 169

103. **शिव और विष**

कभी भावों में पले थे,
अब अभावों भरा जीवन जी रहे हैं ।
देवता बन कभी अमृत घूँटते थे,
अब बिना शिव हुए ही
विष पी रहे हैं ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 170

104. **संतुलन**

सबका दुख अपने अपने पर लेने का दंभ
अपना दुख सबसे कह देने की व्यग्रता |
दोनों के बीच,

कहीं खोया है संतुलन—
कभी हाथ आता है,
कभी छूट जाता है ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 171

105. **सार्थकता**

सूखी नदी में
नैतिकता का नाव-पुल-व्यर्थ है ।
यदि है तो—
सब की सार्थकता है अनुभव की राह में,
जल में, तरंगों में, गति में, प्रवाह में ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 172

106. **साक्षात्कार**

देखा हिमवान को,
पंक्ति-बद्ध राशीभूत अट्टहास !
कानों ने नहीं,
मुग्ध आँखों ने सुना ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 173

107. **सिंधु द्वारे सिन्धु**

सिंधु द्वारे सिन्धु
क्या कहूँ
दोनों दिशाओं में अगम विस्तार
बाहर विविधता की शृंखलाओं का विमुग्ध प्रसार
भीतर अनकही अनगही घन अनुभूतियों का क्षुब्ध पारावार
दो अमाप अकूल छोरों की निविड़ लघु ग्रंथि सा अस्तित्व
उलझनों में बँधा, जकड़ा मोह में
डसा दुमुँहें साँप से—
विष-द्विधा से संतप्त
देह की इस देहली पर ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 174

108. **हरसिंगार की गंध, चाँदनी रात में**

आँज गयीं किरनें
पराग की धूलि से

नयन स्वप्न-छवि-अंध
चाँदनी रात में ।
घूम रहा मन मुग्ध
सुरभि-देह बाँहों भरे
पवन-सदृश निर्बंध
चाँदनी रात में ।

आयी, —कुछ चुपचाप
कान में कह गयी,
हरसिंगार की गंध
चाँदनी रात में ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 175

109. **हे राम !**

हे राम !
तुम्हारी रची
रक्त की भाषा में

हर बार
तुम्हीं से कहता है
शम्बूक मूक,
तज कर्म-वेद-पथ—
वर्ण-भेद-पथ अपनाकर

मानव-समाज की
ऊर्ध्वमुखी मर्यादा में

तुम गये चूक ।

मनुजता हो जहाँ आहत, मूक,

वहीं उसका स्वर बने शम्बूक ।

राज्य जो संस्कृति रहित है, दर्प है,

डसेगा मानव-नियति को, सर्प है ।

कविता-पृष्ठ संख्या : 176

□

कृत्तित्व

रचनाकार एवं रचनाएँ

जन्म : 5 जुलाई 1926 , शाहाबाद हरदोई, उत्तर प्रदेश ।

शिक्षा : एम0 ए0, डी0 फिल0, चित्रकला एवं संस्कृत में डिप्लोमा ।

'साहित्य वाचस्पति' —हिन्दी साहित्य सम्मेलन ।

शोध-ग्रन्थ : 'गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन'
(भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में प्रथम शोध-कार्य)

सन् 1950 से हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य एवं

कई वर्षों तक विभागाध्यक्ष रहकर सन् 1986-87 में अवकाश प्राप्त । तदुपरान्त विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की विशेष योजना के अन्तर्गत कार्यरत ।

विषय : 'कला और काव्य में लय-तत्व'

चित्रकला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय में समय-समय पर व्याख्यान हेतु आमंत्रित । विषय— 'सौन्दर्य-शास्त्र एवं भारतीय कला'

प्रकाशन एवं प्रकाशक

वर्ष	पुस्तक	प्रकाशक
1954—1968	नयी कविता 'संपादन'	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, किताब महल, लोकभारती, इलाहाबाद |
1955	नाँव के पाँव	विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, गोरखपुर ।
1957	लेखक और राज्य	भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
1957	गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण	काव्य का तुलनात्मक अध्ययन हिंदी परिषद, इलाहाबाद विश्वविद्यालय ।
1959	शब्द दंश	भारती भंडार, इलाहाबाद ।
1961	भारतीय कला के पदचिह्न	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।
1961	रीतिकाव्य-संग्रह	ग्रंथम, रामबाग, कानपुर ।
1964	हिम-विद्ध	भरतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली ।
1964	स्नातकोत्तर हिन्दी-शिक्षण कार्य-शिविर	हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय ।
1964	प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।
1968	रीतिकाव्य	वसुमती प्रकाशन, इलाहाबाद |
1968	कृष्ण-भक्ति काव्य	वसुमती प्रकाशन, इलाहाबाद |
1970	आदिम एकान्त	राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली ।
1971	नयी कविता-स्वरूप और समस्याएँ	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली ।
1971	'परिमल' स्मारिका, रजत-पर्व	
1972	काव्यसेतु	साहित्य भवन, इलाहाबाद ।
1973	युग्म	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली ।
1973	कवितान्तर	ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर ।
1974	त्रयी—1	नयी कविता प्रकाशन, नागवासुकि, इलाहाबाद।

1976	त्रयी—2	नयी कविता प्रकाशन,नागवासुकि इलाहाबाद।
1977	शम्बूक	लोकभारती, इलाहाबाद ।
1979	छंद-शती	लोकभारती, इलाहाबाद ।
1981	कला त्रैमासिकःबाल-कला अंक	उ0प्र0 ललित कला अकादमी लखनऊ ।
1983	केशवदास	साहित्य अकादमी, दिल्ली ।
1983	उद्धवशतक 'संपादन'	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद,
1983	नवधा	भारतीय प्रकाशन, मेरठ ।
1984	गोपा गौतम	वाणी प्रकाशन, दिल्ली ।
1985	बोधि-वृक्ष	वाणी प्रकाशन, दिल्ली।
1985	हिन्दी की प्रकृति और विकास	हिन्दी परिषद प्रकाशन, इलाहाबाद ।
1987	माँ के लिए	नयी कविता प्रकाशन, इलाहाबाद ।
1988	साँझ	प्रतिमान प्रकाशन, इलाहाबाद|
1989	कुम्भ-दर्शन	सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग, लखनऊ ।
1989	जयन्त	जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।
1989	त्रयी—3	नयी कविताप्रकाशन, नागवासुकि, इलाहाबाद। वितरक जय भारती, प्र0, इलाहाबाद।
1990	माँ के लिए (तमिल अनुवाद सहित)	हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद ।
1994	महादेवी वर्मा	साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली ।
1994	शान्ता	लोकभारती प्रकाशन,इलाहबाद|

रचना एवं सम्मान

'मानद उपाधि' हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा ।

1953 शोध-ग्रन्थ पर ब्रज साहित्य मण्डल मथुरा द्वारा ।

1970 'प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला' पर उ0प्र0 हिन्दी संस्थान, लखनऊ द्वारा ।

1971 मध्य प्रदेश साहित्य एकेडेमी द्वारा भी ।

1984 ब्रजभाषा काव्य 'छंद-शती' पर प्रधानमंत्री अटल बिहारी बाजपेयी द्वारा
भातर-भारती सम्मान (1984) उ0प्र0 हिन्दी संस्थान लखनऊ में।

1992 "मैथिलीशरण गुप्त सम्मान" मध्यप्रदेश शासन द्वारा ।

1993 पं0 श्रीनारायण चतुर्वेदी सम्मान, उत्तर प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन ।

सम्पादन

'नयी कविता (1984-87), रीति काव्य संग्रह (1961) 'काव्य-सेतु' (1972), 'कवितान्तर' (1973), त्रयी-2, (1976), 'नवधा' (अज्ञेय के साथ सम्पादित 1983), 'उद्धव शतक' (1983)

कला-संदर्भ

संस्था-संस्थापन: 'तूलिका', 'रूप-शिल्प', 'कला-संगम' तथा केन्द्रीय सांस्कृतिक समिति आदि अनेक कला-संस्थाओं का संस्थापन एवं संचालन | 'प्रागैतिहासिक चित्रकला' के स्वतः प्रेरित विशिष्ट अनुशीलन-क्रम में भारत के अज्ञात शिलाओं एवं गुफाओं एवं गुफाओं की प्राथमिक खोज, शिला-चित्रों की अनुकृतियों का अंकन और प्रकाशन ।

विभिन्न स्थानों में अनेक एकल चित्र-प्रदर्शन

1. सन् 1959 में सुधीर खास्तगीर द्वारा आमंत्रित तथा प्रसिद्ध कला समीक्षक राधाकमल मुखर्जी द्वारा उद्घाटित ।
2. सन् 1973, लखनऊ अकादमी में राज्यपाल महामहिम अकबर अली द्वारा उद्घाटित ।
3. सन् 1976 ललित कला अकादमी दिल्ली में केन्द्रीय मंत्री श्री के0सी0 पन्त द्वारा उद्घाटित ।
4. सन् 1983 काठमाण्डू नेपाल भारतीय राजदूत महामहिम श्री एच. सी. सरीन द्वारा
उद्घाटित—
5. अन्य अनेक एकल तथा सम्मिलित प्रदर्शन प्रयाग में । श्री सुमित्रा नंदन पंत, श्री राजन नेहरू आदि द्वारा उद्घाटित ।
6. कलांगन, कला-पर्व, हरिद्वार , 1994

7. इलाहाबाद संग्रहालय द्वारा आयोजित चित्र प्रदर्शनी, उद्घाटनकर्ता डॉ.सीताकान्त महापात्र, 16 जुलाई, 1994 ।

शिल्प-सहयोग

निजी कृतियों का अलंकरण आवरण तथा अन्य प्रतिष्ठित साहित्यकारों की रचनाओं एवं अभिनन्दन ग्रन्थों में कलात्मक सहयोग ।

मूर्ति वं पुरातत्व: विशेष संदर्भ

— अपने जन्म स्थान शाहाबाद, हरदोई में व्यक्तिगत रूप से प्राप्त दो हजार से

अधिक मृणमूर्तियों (टेराकोटा) का अप्रतिम संग्रह ।

— संग्रह की अन्य वस्तुओं में प्राचीन एवं मध्य-कालीन मुद्राएँ एवं अभिमुद्राएँ, पात्र

खण्ड से एकत्रित तथा अपने आवास नागवासुकि में प्रदर्शित|

— स्वयं वं आत्मज अभिनव गुप्त द्वारा उपलब्ध अनेक ताम्रास्त्र राष्ट्रीय संग्रहालय

दिल्ली की क्रय-सीमित द्वारा प्राप्त एवं प्रदर्शित ।

अभिमत

- ‘रंगों की बोली’ नामक भाव-लेख में श्रद्धेय दादा माखनलाल चतुर्वेदी द्वारा कवि चितेरे जगदीश गुप्त को सम्बोधित ।

‘जगदीश जी की कला में ऐसे गूढ़तम सार्वभौमिक तत्व पाये जाते हैं जो नयी मानवता की कल्पना को साकार करते हैं।’

- —सुमित्रानंदन पंत द्वारा प्रयाग में एकल चित्र-प्रदर्शनी पर व्यक्त विचार (1956)

- ‘प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला’ नामक आपकी पुस्तक मैंने बड़ी रुचि के साथ पढ़ी है । आपने इस विषय का जैसा ऊहापोह किया है वह बहुत उत्तम कोटि का है ।

डॉ0 हजारीप्रसाद द्विवेदी

- प्रागैतिहासिक चित्रकला का उनका अध्ययन इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी माध्यम से उच्चकोटि का गम्भीर अध्ययन भी किया जा सकता है ..... शोध और भाषा दोनों इसके लिए जगदीश जी के ऋणी है ।

अज्ञेय द्वारा सम्पादित ‘दिनमान’

29 अक्टूबर, 1967

❖